सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई–283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 55 ; अंक : 04

जुलाई 2022

प्रकाशन तिथि : 01.07.2022

मूल्य – एक प्रति : 22/–, द्विवार्षिक : 400/–

अमृत-कण

आ यद्वामीय चक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥

(ऋग्वेद)

हे परस्पर स्नेहभाव और विरोध रहित स्त्री-पुरुषो ! दीर्घ दृष्टि से युक्त बनो। हम विद्वान लोग, आप और अन्य सब लोग मिलकर स्वराज्य की रक्षा के लिए सब प्रकार से प्रयत्नशील रहें।

◆ ◆ ◆

काव्यशास्त्रविनोदेन कालोगच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

(हितोपदेश)

बुद्धिमानों का समय काव्य, शास्त्र, साहित्य का अध्ययन कर मनोरंजन में व्यतीत होता है, परन्तु मूर्ख यानि बुद्धिहीन लोगों का समय बुरी आदतों में, सोने में और कलह करने में व्यतीत होता है।

◆ ◆ ◆

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता)

जो व्यक्ति परमात्मा को सर्वत्र और प्रत्येक जीव में समान रूप से मौजूद देखता है, वह अपने मन के द्वारा अपने आपको भ्रष्ट नहीं करता। इस प्रकार वह दिव्य गन्तव्य को प्राप्त कर लेता है।

◆ ◆ ◆

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च॥

(चाणक्य नीति)

घर के बाहर निकले हुए को सच्चा मित्र विद्या होती है, घर के अन्दर श्रीयुक्त पत्नी मित्र होती है, रोगी के लिए औषधि मित्र होती है और मरने वाले का मित्र उसका धर्म (धर्माचरण) होता है। इसलिए धर्म का पालन अधिक से अधिक करना चाहिए।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते—करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 55 जुलाई 2022 अंक : 04

तस्मै देवाय नमो नमः

यो देवो अग्नौ यो अप्सु
यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु
तस्मै देवाय नमो नमः।।

जो सर्वशक्तिमान् पूर्ण ब्रह्म परमदेव अग्नि में हैं, जो जल में हैं, जो समस्त लोकों में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हो रहे हैं, जो औषधियों में हैं और जो वनस्पतियों में हैं- अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, जिनका अनेक प्रकार से पहले वर्णन कर आये हैं, उन परमदेव परमात्मा को नमस्कार है। नमस्कार है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख- *योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज*	3
2.	सम्पादकीय	7
3.	आश्वलायन के प्रश्न-3 प्राण- *पं. कृष्ण कुमार पाण्डेय*	10
4.	भव रोग वैद्यं- *डॉ. श्री विजय सिंह*	13
5.	मानवता-वाद - *श्री वेदप्रकाश अग्रवाल*	17
6.	परमधर्म-योग - *स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती*	22
7.	कहाँ तक गाऊँ मैं बड़ाई गुरुदेव की- *जगदीश राए बंसल*	26
8.	गीता में श्रद्धा का स्थान- *स्वामी श्री सहजानन्द सरस्वती*	30
9.	पवित्र कर्म और उनका प्रतिफल- *श्री कर्मनारायण कपूर*	33
10.	जीवात्मा और परमात्मा की एकता- *पं. श्रीहरिकृष्ण जी झा*	39

एक प्रति	: रु. 22.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 400.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 1000.00

विशेष लेख—

सिद्ध सिद्धान्त एवं सिद्ध-दर्शन का उपाय

(योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

सिद्ध सिद्धान्त क्या है ? और साधक सिद्धों के दर्शन किस प्रकार कर सकता है यह एक विशेष विचारणीय विषय है। वैसे तो सिद्ध सिद्धान्तों से हमारे सभी यौगिक ग्रन्थ परिपूरित हैं। ''हठयोग प्रदीपिका'' ''शिव संहिता'' ''गोरक्षपद्धति'' यौगिक उपनिषदें सभी सिद्ध–सिद्धान्तों से परिपूरित हैं फिर भी आप सभी के हितार्थ हम थोड़े से शब्दों में 'सिद्धसिद्धान्त' एवं 'सिद्ध' शब्द की परिभाषा लिख देना ही ठीक समझते हैं। 'सिद्ध' शब्द का यथार्थ अर्थ है 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् सर्वथा सक्तः सैव सिद्धः' अर्थात् जो किसी कार्य को कर दे, किये हुए को बिगाड़ दे फिर ज्यों का त्यों बिगड़े हुए को ठीक कर दे यही सर्वसमर्थता का ठीक प्रमाण है। ऐसे ही सर्वशक्तिसम्पन्न कर्तुम् अकर्तुम् सर्वथा सक्तः समर्थ वाले महापुरुषों को सिद्ध कहते हैं। ये लोग सब प्रकार से आत्मदर्शी होते हैं एवं सर्वशक्तियों से सम्पन्न, भूतमयी, प्रकृति पर हुकूमत करने वाले दिव्य देहधारी महापुरुष होते हैं। योग हमें बतलाता है—

परमाणु परम महत्वान्तोऽस्य वशीकारः।

अर्थात् परमाणु से लेकर परम महत्तत्व या मूल प्रकृति पर्यन्त पूरा अधिकार है। उसका चित्त अभ्यास करते–करते उस स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि फिर उसको अभ्यास की जरूरत नहीं रहती। पढ़िए व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाणवन्तं स्थितिपदं लभत इति, स्थूले निविशमानस्य परनमहत्त्वन्तं स्थितिपदं चित्तस्य, एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतिघातः स परो वशीकारः तवशीकारात्परिपूर्ण योगिनश्चित्तन पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति।।

अर्थात् जिस समय योगी सूक्ष्म में संयम करना आरम्भ करता है वह परमाणु तक देख लेता है और जिस समय स्थूल में संयम करता है तो उस समय मूल प्रकृत पर्यन्त महत्तत्व तक पूर्णाधिकार हो जाता है। सूक्ष्म में अभ्यास करने वाले तथा स्थूल में अभ्यास करने वाला

योगी जिस समय स्थिति को प्राप्त कर लेता है वह उसका परमवशीकार कहलाता है अर्थात् उसका चित्त इतना संयमित हो जाता है कि उसको पुनः अभ्यास से संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती, केवल संकल्पमात्र से उसका संयम सिद्ध रहता है। उसका चित्त बहुत ही निर्मल होता है जहाँ वह संयम करता है वहीं स्थिति को पा जाया करता है। ऐसे योगी समाधि एवं अपने संयम के बल से परम वशीकार वाले होते हैं। उनके अन्दर कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम की ताकत अनायास ही बनी रहा करती है और स्थान-स्थान पर जैसा कि योगदर्शन के विभूतिपाद के अन्तर्गत विभूतियों का वर्णन किया गया है, उन सभी विभूतियों को योगी अपने संयम के बल से प्राप्त कर लिया करते हैं।

ये ही लोग कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम की शक्ति वाले कहलाते हैं। तुलसीकृत रामायण में कागभुसुण्डि उपाख्यान मिलता है। उसमें आदि महासिद्ध भगवान शिव के कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् की शक्ति का पूरा परिचय मिलता है। गुरुदेव से अभिमान पूर्वक पीठ दे करके अपना भजन करने वाले कागभुसुण्डि को भगवान सदाशिव ने 84 लाख योनि भोगने का श्राप दिया और जिस समय उसके गुरुदेव ब्राह्मण ने अपने शिष्य पर दया करने के विचार से भगवान शिव की स्तुति की, जिसको प्रायः सभी लोग जानते हैं उस स्तुति को सुन करके भगवान शिव प्रसन्न हुए और ब्राह्मण को वर माँगने की आज्ञा प्रदान किये उस ब्राह्मण ने प्रथम तो अपने हित के लिए उनकी भक्ति को माँगा और दूसरे वर के अन्दर अपने शिष्य पर अनुग्रह करने के लिए वरदान माँगा। जिसके फलस्वरूप भगवान शिव ने अपने श्राप को बहुत ही सूक्ष्म में निपटा दिया तथा साथ ही साथ यह कह दिया कि मेरे मुख निकला वचन बिल्कुल मिथ्या तो नहीं होगा। उन योनियों में उसे जाना ही होगा और जन्म लेना पड़ेगा, किन्तु यह जब-जब जहाँ-जहाँ जिस योनि में जन्म लेगा इसको कोई दुख नहीं होगा किन्तु वे बराबर उस योनि से, भोग भोगकर जल्द निकल जायेगा। इसी का नाम है कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्। ठीक शब्दों अन्दर यही सिद्ध शब्द की यथार्थ परिभाषा है।

संसार में एक नियम चलता है और वह यह कि हमारा चित्त प्रज्ञा प्रवृत्ति स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है। इसलिए संसार में जन्म लेने वाले व्यक्ति सभी एकमत के हों यह सम्भव नहीं हो सकता। यही कारण है कि 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' का सिद्धान्त सभी जगह चालू रहता है। इसी कारण से सारे संसार में नाना प्रकार के सिद्धान्तवादी लोग हैं, किन्तु वे सभी अपनी अपनी मति के अनुसार सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं। किन्तु इनके ये सिद्धान्त सिद्धान्त नहीं हैं क्योंकि वे सब अपने आप में सिद्ध नहीं हैं। ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त योगी ही सिद्धान्तों की रचना कर पाते हैं। सिद्धों के सिद्धान्त ही वस्तुतः मूलसिद्धान्त हैं क्योंकि उनके

वक्ता आप्तपुरुष सर्वज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न होते हैं। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है–

यस्या श्रद्धेयार्थो वक्ता न द्रष्टानुमितार्थ: स आगम: प्लवते, मूलवक्तरि तु दुष्टनुमितार्थे निर्विप्लव: स्यात्।।

अर्थात् जिस सिद्धान्त को कहने वाले वक्ता अश्रद्धेय हैं एवं मनमाने सिद्धान्तों की कल्पना अपने मन से करते हैं उनके सिद्धान्त सर्वथा गिर जाया करते हैं, मूल वक्ता आदि महासिद्ध जो सदा प्रकर्ष गति से ही सिद्ध हैं उनके सभी सिद्धान्त प्लवन रहित (चिरस्थायी) होते हैं अर्थात् उनके मुख से निकली वाणियाँ कभी भी असत्य नहीं होती हैं इन्हीं की वाणियों को सिद्ध सिद्धान्त कहा जाता है, यही कारण है कि हमारे ऋषि मुनियों के मौलिक सिद्धान्त, सिद्धान्त हैं क्योंकि उनका सभी प्रकार से पर्यवेक्षण कर लेने के बाद उनमें किसी प्रकार की कमी दिखाई नहीं पड़ती। आजकल के समय में लोग अनेकों प्रकार की भविष्यवाणियाँ करते हैं उनमें से कोई–कोई ही सत्य निकल पाती है अन्यथा प्राय: अधिकांशत: गलत निकलती हैं किन्तु हमारे ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त ऋषि मुनियों ने जो–जो भी भविष्यवाणियाँ कीं वे सभी प्लवन रहित है। भविष्यपुराण को उठाकर पढ़िए उसमें कलिकाल के वर्णन के अन्दर निर्वीजा पृथ्वी, निरौषधी रस:, निचामहत्त्वंगता: भार्यामन्त्री विरोधिनी पररता:, पुत्रा पितृदूषिका: आदि–आदि बातें लिखी हैं जो वाणियाँ ज्यों की त्यों सत्य हो रही हैं। क्योंकि इन वाणियों के वक्ता श्रद्धेय थे, सिद्ध थे एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न थे। सिद्धान्त शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसका अन्तिम निष्कर्ष प्लवन रहित स्थिर शुद्ध सत्य हो, वही सिद्धान्त कहलाता है। अब यही बात है कि ऐसे सिद्ध सिद्धान्त के वक्ता, महापुरुषों के दर्शन को मनुष्य कैसे प्राप्त करे। और किस प्रकार से उनके मौलिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में घटित कर सकें इसके शास्त्रोक्त दो विशेष उपाय हैं। जिनके द्वारा मनुष्य सिद्ध दर्शन का अधिकारी बन जाता है। पहला उपाय है कि मनुष्य अपने जीवन के अन्दर पुण्य संवर्धन करे और अपनी मानसपवित्रता को बढ़ाता चला जाये। पुण्य संवर्धन के लिए यज्ञदान तप कर्म, पावनानी मनीषिणा अनेक प्रकार के यज्ञ करना, दान करना, तथा तप करना मनुष्य के अन्त:करण को पवित्र करने वाले कर्म हैं। इन सब कर्मों के करने से पुण्य का संग्रह बढ़ता चला जाता है। मनुष्य उत्कृष्ट तप तथा साधना करता हुआ यज्ञ, दान आदि करता हुआ अपने को उत्कृष्ट पुण्य के खजाने से भर लेता है। पुण्य सम्वर्द्धन करता चला जाये तथा बढ़े हुए पुण्य की रक्षा भी करता चला जाये। एक मनुष्य बड़े–बड़े दान भी करता है, बड़े–बड़े यज्ञ करता है तथा तपश्चर्यायें करता है उनके फलस्वरूप उसका पुण्य बढ़ता तो चला जायेगा किन्तु उसमें यदि क्रोध है, अहंकार है और साथ के साथ ईर्ष्यालु स्वभाव होने से परिपीड़न के भाव बने रहते हैं तो वह अपनी

बढ़ी हुई पुण्य की निधि को साथ–साथ नष्ट भी करता चला जाता है। ऐसी स्थिति में वह सिद्ध दर्शन का अधिकारी नहीं हो सकता, इस विषय में हमारा शास्त्रीय लेख है–

इद्दसन्तु भवेदू यद् यद् तत् तत् भुक्त्वा ज्ञानी, पुनरभवेत् पश्चात् पुण्ये न लभते सिद्धेंनसः संगतीय ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति, नान्यथा ततो नस्यती संसारो अयम नान्यथा शिव–भाषितम्।।

अर्थात् ज्ञानी आत्मा भी अपनी क्लिष्टा क्लिष्ट वृत्तियों के उत्थान पतनात्मक विविध प्रकार के भोगों को भोगता हुआ जब उसकी पुण्य निधि बढ़ जाती है उसके फलस्वरूप सिद्धों की संगति को प्राप्त करती है, और सिद्ध संगति को प्राप्त करने के बाद वह उनकी अनुकम्पा को पाकर योगी बन जाता है तब यह संसार का बन्धन टूटता है। यहाँ स्वयं भगवान शिव ने कहा। इसलिए निष्काम कर्म योग करता हुआ साधक विविध प्रकार के पुण्य कर्म करके अपनी पुण्य निधि को बढ़ा लेता है। वह सिद्ध संगति का अधिकारी बन जाता है। उसके बाद दूसरा उपाय है–स्वाध्याय।

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः।।

सा. पा. 44।।

देवाः, ऋषयः, सिद्धाश्चस्वधायायशील–दर्शनंगिच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्त्तन्ताइति।।

44।।

अर्थात् स्वाध्याय के बल से साधक इष्ट देव की कृपा का लाभ करता है और उसी स्वाध्याय के प्रभाव से मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग, देव लोग और सिद्धों के दर्शन प्राप्त होते हैं। यज्ञ, दान, तप आदि पुण्य कर्मों का करना हर व्यक्ति के लिए सुलभ साधन नहीं है क्योंकि यज्ञ, दान आदि अर्थाभाव से सभी लोग नहीं कर सकते, किन्तु स्वाध्याय आदि यदि कोई दृढ़ लगन से करना चाहता है तो वह कर भी सकता है। अनुभवी सन्तों का अनुभव है जो पवित्र भागीरथी के तट पर बैठ करके अपने इष्ट के मन्त्रों का जाप करते रहते हैं। उन्हीं के स्त्रोत्र आदि का पाठ करते रहते हैं उसका परिणाम यह निकलता है कि वे लोग सिद्धों के दर्शन को पा जाया करते हैं एवं सिद्ध सिद्धान्त के अनुसार सिद्धों का दर्शन अमोघ होता है उसके फलस्वरूप साधक उनकी कृपा को पाकर अपने आपको कृतार्थ बना लेता है। उनके शक्तिपात से उस साधक को सहज ही समाधि प्राप्त हो जाती है अतः इस लेख के विषय को समझ करके एवं सिद्ध की परिभाषा एवं सिद्धान्त की परिभाषा जान करके अपने आपको अध्यात्म–मार्ग में बढ़ाने का प्रयत्न करें। ऐसा करने पर उस अनुग्रह को पाकर अपने आपको कृत–कृत्य बना लेगा।

सम्पादकीय—

गुरु पूर्णिमा का अमृत पर्व

—आचार्य डॉ. दासलाल जी महाराज

हमारे देश में गुरु पूर्णिमा व व्यास पूर्णिमा—व्यास पूजा का पावन पर्व अषाढ़ माह की पूर्णिमा को बड़े धूम धाम व उल्लास से मनाया जाता है। ईश्वर प्रदत्त अद्‌भुत ज्ञान राशि वितरण गुरु परम्परा से अनादि काल से चला आ रहा है।

परमात्म ज्ञान के उस अथाह भण्डार से गुरुदेव द्वारा ही वह दिव्य ज्ञान संचारित होकर मानव धरातल तक पहुँचता है। जिससे सामान्य व्यक्ति भी इस ज्ञान का ग्राहक बन जाता है, बशर्ते व्यक्ति इस विद्या का उचित अधिकारी हो। गुरु मुख से ही परमात्म ज्ञान का श्रवण करके साधक अपने परमार्थ पथ पर चला करता है। गुरु मुख से प्राप्त विद्या ही फलवती होती है। गोविन्द से भी गु‌रु की महिमा अधिक बताई गई है। कहा है कि—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागू पाँव।
बलिहारी गुरु आपनो गोविन्द दियो लखाय।।

गुरु कृपा से ही ईश्वर के दर्शन संभव होते हैं। इसलिए प्रथम पूजा गुरुदेव की ही पूजा की जाती है। तत्पश्चात् गोविन्द की। सभी महान सन्तों ने गुरु की महिमा गाई है। गुरु शब्द शब्दे (क्रयादिगण) तथा गृ निरारणे इन दो धातुओं का व्युत्पन्न होता है। '**गृहाति उपदिशदि धर्मतिमति—गुरुः**' जो योगधर्म का उपदेश करे वही गुरु है। ''**यदा गीर्यत स्तूयते देव—गन्धर्वा दिमिरिति गुरुः।**'' अथवा देव गन्धर्वादि जिसकी स्तुति करते हैं वह गुरु है। जो गुरु वही पूर्ण है। गुरु वह है जो गरिमामय है। जिसमें गुरुत्वाकर्षण है जीवों को अपनी ओर खींच लेते हैं। जो सबसे बड़ा है सर्व समर्थ, व्यापक है, अनन्त है। पूर्णत्व गुरुत्व में ही है। उस पूर्ण सत्ता को ही शास्त्रों की भाषा में ब्रह्म कहते हैं। अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त है। ''**सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्व**—(गीता) जो सबको अपने में समेट लेता है। इसलिए वह सर्वरूप है। उसे सर्वगत भी कहा जाता है। सर्वगत होने से ब्रह्म पूर्ण है। उपनिषद् में मन्त्र आता है। ''**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते।**'' अर्थात् वह ब्रह्म पूर्ण है। यह जगत भी उससे व्याप्त होने के कारण पूर्ण कहा गया है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल देने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है। यहाँ पर पूर्ण शब्द ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिए ही व्यवहृत हुआ है। श्रुति में '**रसो वै सः**' कहकर ब्रह्म को रसरूप में माना है। रसों का मूल स्रोत चन्द्रमा है। पूर्ण चन्द्रमा में अमृत बनता है। वह अमृत ही रसरूप ब्रह्म है। गुरु में भी अमृत्व है। शिष्य को अमृत अमर बना देने की सामर्थ्य गुरुदेव में ही होती है, अन्य किसी में नहीं। गुरु पूर्ण मर्थ

होता है चेतना का महास्रोत होता है। भगवान का अवतरण समय-समय पर इस संसार में होता चला आ रहा है। जब वे मानवाकृति में आते हैं, तब वे अपने सदुपदेश से, अपने दिव्य संस्पर्श से, लोकोत्तर चरित्र से जीव के कल्याण के लिए कृत संकल्प रहते हैं। इस रूप में भगवान का ऐसा मिलन जीव का आध्यात्मिक एवं भौतिक उभय मिलन होता है। उस समय वे गुरु शिष्य के रूप में ही होते हैं। उस क्षण जीव उस परम गुरु अर्थात् अपने इष्ट को पाकर यह भूल जाता है कि वह जन्मने और मरने वाला जीव है। वह इष्ट के रूप में तदाकार हुआ सिद्ध समर्थ गुरु अपने शिष्य के आत्मोत्थान के लिए मानव शक्ति का संचार करके शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक मन के शोधन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियायें कराते रहते हैं।

भगवान कृष्ण गीता में मन और बुद्धि को इष्ट के सगुण रूप में समाहित कर देने की बात कहते हैं। भगवान की कृपा से जीव के मन और बुद्धि को अपने में विलय करा लेते हैं। जिससे जीव जीवत्व को त्याग कर ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है। उस परम भाग्यशाली जीव को भगवान जीव ब्रह्मैक्य का बोध करा देते हैं। यही भगवान के अवतरण का रहस्य एवं उद्देश्य है। भगवान के इसी गुरुत्व के आकर्षण के कारण ही वे जगद्गुरु कहलाते हैं। जीवों का इस प्रकार परम गुरु से मिलन सहसा संयोगवश नहीं होता है। जन्म जन्मान्तर की उस ...पदेव से मिलने की चाह तद्भावना भक्ति होकर उस जन्म के दृढ़ संस्कार सम्बन्ध के स्थापित होने पर यह बात संभव हो जाती है। अन्यथा परात्पर शक्ति के पृथ्वी पर आविर्भाव होने पर भी उनके निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति भी अपने कर्मों की मलीनता से भगवान के निन्दक ही बनकर जीवन बिता देते हैं। हम में से बहुत से भाग्यवान पुरुषों ने उस परम देव का श्री चन्द्रमोहन जी महाराज सद्गुरु रूप में दर्शन एवं पावन सानिध्य का परम लाभ प्राप्त किया है। उनके पावन चरण तल में बैठने पर जीव की समस्त कामनायें एवं वासनायें विलुप्त हो जाती थीं। परम शांति एवं आनन्द का साम्राज्य छा जाता था। प्राण स्वतः ही निश्चल हो जाता था। सभी उपस्थित शिष्य समुदाय का जिनके गुरुदेव ही एक मात्र परायण एवं जीवन के सूत्रधार हैं यह देखकर **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इवा'** — यह वचन मानस पटल पर घूमने लगता था।

ऋषि कल्प गुरुदेव के देदीप्यमान मुखमण्डल को देखकर अध्यात्म की किरणें स्वतः शिष्यों के मानव तल को स्पर्श कर लिया करती थीं। गुकार अन्धकार का वाचक है और रुकार अन्धकार निवारक या प्रकाश देने वाला। जो अन्धकार अज्ञान को दूर कर शिष्य के हृदय में ज्ञान की ज्योति जला दे वही गुरु है—ऐसा गुरुगीता का वचन है। **''नास्ति तत्वं गुरोः परम।''** गुरुदेव से आगे कोई तत्व नहीं यह भगवान सदाशिव का आदेश है। शिष्य का जीवन-मृत्यु समर्थ गुरुदेव के हाथ में होता है। आवश्यकता है शिष्य के गुरु के प्रति पूर्ण

समर्पण की जो काफी दुःसाध्य है। योग से जीवन और ब्रह्म का एकत्व होता है। गुरु भक्ति से गुरु शिष्य का एकत्व हो जाता है। जो शिष्य के जीवन का लक्ष्य रहा करता है। इसीलिए नित्य ही गुरु गीता के इस श्लोक का मनन करता हुआ कहता है—

नित्यं शुद्धं निराभासं निराकारं निरंजनम्।
नित्यबोधंचिदानन्दं गुरु ब्रह्म नमाम्यहम्।।

अर्थात् जो नित्य है, शुद्ध है, आभास रहित, आकार रहित, माया रहित, नित्य बोध स्वरूप, चेतन और आनन्द रूप ब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार गुरु की सेवा से, चिन्तन से शिष्य गुरु की उपासना करता है वह भव बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए गुरुदेव को भवभय विनाशक कहा गया है। गुरुदेव स्वयं मंत्र स्वरूप होकर शिष्य के आध्यात्मिक शरीर में अनुप्रविष्ट तत्पश्चात् शिष्य को अपने नित्य चैतन्य स्वरूप का बोध कराते हैं। शास्त्रों का लेख है—

''**गुरु पूजा विहिनानाम् न सिद्धिः स्याद्कदाचन**''। जो गुरुदेव की पूजा आराधना नहीं करते तथा गुरुदेव को संतुष्ट नहीं रखते उन्हें कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। जो गुरुदेव के दिये मंत्र का जाप करता रहता है तथा गुरुपदिष्ट मार्ग से ध्यान करता है वही गुरुदेव का प्रिय भक्त होता है और उसे ही अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है।

अतः शिष्य को गुरु निष्ठ रहना चाहिए। फिर उसके लिए भूतल में कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता। इस बार गुरु-पूर्णिमा 13 जुलाई 2022 को सम्पन्न होना है।

श्री रामलाल प्रभवे नमः

सभी गुरु भाई बहिनों को सूचित किया जाता है कि श्री गुरु पूर्णिमा का पावन अमृत महोत्सव इस वर्ष 13 जुलाई को मनाना निश्चित हो चुका है। इसके बाद एक दिन छोड़कर 15 जुलाई द्वितीया से ही श्री रुद्राभिषेक यज्ञ का कार्यक्रम रहेगा। यह यज्ञ अनुष्ठान एक सप्ताह तक चलेगा। इसमें ग्यारह वेद पाठी रहेंगे जो श्री आचार्य बैकुण्ठनाथ शर्मा जी के आचार्यत्व में काम करेंगे। 21 जुलाई को यज्ञ की पूर्णाहुति होगी। अतः उक्त कार्यक्रम में सभी सम्मिलित होवें व पुण्य के भागी बनें।

आपका

आचार्य दासलाल एवं साधक मण्डल

श्री सिद्धगुफा सवांई एत्मादपुर, आगरा।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

आश्वलायन के प्रश्न–3 प्राण

प्रस्तुतकर्त्ता–पं. कृष्ण कुमार पाण्डेय, प्रवक्ता, मोहल्ला बरगदवा गोरखपुर

मनुष्य का शरीर प्राण पर आधारित है। ऐसा शास्त्रों में बताया गया है कि मनुष्य एक निश्चित प्राण लेकर इस संसार में आता है। जैसे ही प्राण रूपी पूँजी समाप्त हो जाती है वैसे ही वह अपने कर्म तथा अंत समय के चिन्तन के फलस्वरूप रूपान्तरित होकर जन्म धारण करता है। इसी प्राण रूपी पूँजी को प्राणायाम के माध्यम संचित कर समाधि की स्थिति प्राप्त कर व्यक्ति लम्बी आयु को प्राप्त करता है। वर्तमान समय में हम कलियुगी जीव जिसका कर्म शुभ और अशुभ से संचित है। इसीलिए जीवन में सुख–दुःख भोगता रहता है। हमारे सद्ग्रंथ में यद्यपि हमारे कल्याण के दिशा का निर्देश किया है। यद्यपि साधक समुदाय चलने का प्रयत्न तो करता है। सद्गुरु सहायक भी होते हैं। लेकिन हमारी मति हमें दिग्भ्रमित कर देती है। जिससे हम सब कुछ से हाथ धो बैठते हैं। शुभ एवं अशुभ कर्मों की शृंखला के चक्र को भोगते रहते हैं। कबीर दास ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि–

सुख में सुमिरन ना करे दुःख में करे सब कोय।
जो सुख में सुमिरन करे तो दुःख काहे को होय।।

प्रश्नोपनिषद के ऋषि आश्वलायन ने महर्षि के समक्ष अपने प्रश्नों की जिज्ञासा प्रकट करते हुए पूछा–हे प्रभो मेरे मन में छः प्रश्न एक साथ उठ रहे हैं। जिसमें प्रथम–जिस प्राण की महिमा का आपने वर्णन किया वह प्राण किससे उत्पन्न होता है। दूसरा–मनुष्य शरीर में कैसे प्रवेश करता है। तीसरा–कैसे वह अपने को विभाजित कर शरीर में व्याप्त रहता है। चौथा–एक शरीर को छोड़कर कैसे दूसरे में प्रवेश करता है। पाँचवा–जगत को किस प्रकार धारण करता है। छठा–मन, इन्द्रिय तथा आध्यात्मिक जगत को किस प्रकार धारण करता है। महर्षि पिप्पल ने मुनि की बुद्धिमता और तर्कशीलता की प्रशंसा की तथा यह भी कहा कि तुम यद्यपि तर्कबुद्धि से तो प्रश्नों को नहीं पूछ रहे हो, इसके पीछे तुम्हारी श्रद्धा और निष्ठा है। तुम वेदों में निष्णात भी हो इसलिए भी प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है। महर्षि ने कहा–यह प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। वही इसकी रचना करने वाला है। अतः उसी के अधीन है। यह मनुष्य के छाया की तरह रहता है। भाव यह है कि मरते समय जीव के मन में उसके कर्मानुसार जैसा संकल्प होता है। वैसा ही शरीर मिल जाता है। प्राणों का शरीर में प्रवेश संकल्प द्वारा होता है। गीता में भी यही बात योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने बताया है–

यं यंवापि स्मरन्भावंत्यज्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। 8/6

अर्थात् मृत्यु के समय मनुष्य की जैसी वृत्ति बनती है। तद्नुरूप उसे उसका शरीर प्राप्त होता है। जैसे, जड़ भरत का मृग की योनि को प्राप्त होना। महर्षि ने एक ही साथ दो प्रश्नों का उत्तर दे दिया। साधक साथियों इसीलिए सद्गुरुदेव भगवान सदैव मन्त्र जपने का उपदेश करते रहते थे। जिससे यह मंत्र सूक्ष्म बनकर स्वाभाविक रूप से स्वयं होता रहे। योग सूत्र में भी "वीतराग विषयं वा चित्तम्" का पूर्ण भाव यही है कि वीत रागी पुरुषों के चिन्तन होते रहने चाहिए और वह भी सूत्र के अनुसार है—"तत्जपदअर्थ भावनम्"। महर्षि ने तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि—जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट विभिन्न मण्डलों जनपदों, एवं ग्रामों का बँटवारा करके, विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति करके उसका संचालन करते है। उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ प्राण भी विभिन्न अंग, रूप में यथा प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान रूप में स्थान और कार्य निर्धारित है। वे अपना कार्य अपने स्थान पर स्वाभाविक रूप से करते रहते है। बशर्ते इनमें कोई संस्कार वशात् बाधा न उत्पन्न हो।

इन प्राणों के कार्य एवं शरीर में वास स्थान कहाँ—कहाँ है। इसका निरूपण करते कहा कि—प्राण का वास मुख नासिका नेत्र से विचरण करता हुआ श्रोत्र (कान) में स्थिर रहता है। गुदा एवं उपस्थ में अपान वायु स्थापित हो, जहाँ मल मूत्र का विसर्जन शरीर से करता है। यही अपान वायु ही रज वीर्य और गर्भ को शरीर से बाहर करने का भी काम करता है। नाभि में समान वायु का निवास है। यह अग्नि में हवन किये हुए के समान अन्न को पचाने तथा पचे हुए अन्न के सार को सम्पूर्ण शरीर के अंग प्रत्यंग में ले जाता है। अन्न के सार से ही समान प्राण की सात ज्वाला जिसमें दोनों आँख नाक के दोनों नथुने, दोनों कान, तथा मुख ये सात द्वार भी उसी रस से पुष्ट होकर अपना कार्य करते है। बयान का स्थान हृदय प्रदेश है। जहाँ जीवात्मा का वास है। इसमें एक सौ मूलभूत नाड़ियाँ तथा प्रत्येक एक—एक नाड़ी की सौ शाखा नाड़ियाँ हैं। इसमें भी प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ है। इस प्रकार मनुष्य शरीर में कुल बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ है। इन सब में बयान वायु विचरण करता रहता है। यह अपने स्थान पर अपना कार्य करता हुआ शरीर को चैतन्य रखता है। उदान वायु शरीर के ऊपर मस्तिष्क की ओर विचरण करती है। उसका मूल सुषुम्णा है। जिससे बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ जुड़ी हुई है। यह जो सुषुम्णा है जो हृदय से निकलकर ऊपर की ओर विचरण करती है। यह पुण्य शील मनुष्य अपने शुभ कर्मों के भोग के फलस्वरूप वर्तमान शरीर से निकलकर पुण्य लोकों और स्वर्गादि उच्च लोकों को प्राप्त करता है। यदि मनुष्य पाप कर्मों को करता है तो निम्न और अधम योनियों को प्राप्त करता है। यदि पाप पुण्य दोनों समान रूप से मिले जुले होते है तो वह मनुष्य जन्म को प्राप्त होता है। आश्वलायन का मुख्य

प्रश्न था कि मनुष्य कैसे दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। इसकी विस्तृत व्याख्या करने के बाद निष्कर्ष रूप से उदान वायु ही मुख्य प्राण वायु को लेकर दूसरे योनि में प्रवेश करता है। यह अपने साथ मन तथा इन्द्रियों को भी ले जाता है। महर्षि पिपल ने कहा कि–

"आदित्योह वै बाह्य: प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनु गृह्णानः पृथिव्या या देवता सैषा पुरुषास्थापनामवष्ट भ्यान्तराः यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानिः।" अर्थात् सूर्य ही सबका बाह्य प्राण है। मुख्य प्राण सूर्य रूप से उदय होकर समस्त बाह्य अंगों प्रत्यंगों को पुष्ट करता है। नेत्र को देखने की शक्ति प्रदान करता है। पृथ्वी में जो देवता अर्थात् अपान वायु की शक्ति है। वह मनुष्य के भीतर रहने वाले अपान वायु को आश्रय देकर स्थिर किये रहता है। यह अपान वायु की शक्ति गुदा और उपस्थ इन्द्रियों की सहायक है तथा बाहरी स्थूल आकार को धारण करती है। पृथ्वी और स्वर्ग लोक के बीच का आकाश समान वायु का बाह्य स्वरूप है। यह शरीर के बाह्य अंगों प्रत्यंगों की पुष्टि और रक्षा करता है। शरीर के भीतर समान वायु के विचरने से श्रोत्र इन्द्रियाँ शब्द सुनती हैं। आकाश में विचरण करने वाला प्रत्यक्ष वायु ही व्यान का बाह्य स्वरूप है। यह शरीर के बाहरी अंगों को चेष्टाशील करता है तथा शान्ति प्रदान करता है। भीतरी व्यान वायु को नाड़ियों में संचारित करने तथा त्वचा–इन्द्रियों को स्पर्श का ज्ञान कराने में सहायक है।

सूर्य और अग्नि के तेज उष्णत्व को धारण कर वह शरीर के बाहरी अंगों को ठंडा नहीं होने देता और शरीर की भीतरी ऊष्मा को स्थिर रखता है। जिससे शरीर से उदान वायु निकल जाता है। उसका शरीर गरम नहीं रहता तथा शरीर की गर्मी शान्त हो जाते ही उसमें रहने वाला जीवात्मा मन में विलीन हुई इन्द्रियों को साथ लेकर उदान वायु के साथ–साथ दूसरे शरीर में चला जाता है। गीता में भी भगवान कृष्ण ने कहा है कि–

शरीरं यद्वाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयत्।। 15/8

अर्थात् वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को जैसे ग्रहण करके ले जाता है वैसे ही देहादि का स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीर का त्याग करता है उससे मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त करता है। उसमें चला जाता है।

इस प्रकार समस्त प्राण वायु हमारे शरीर को नियंत्रित करके रखते हैं। जो कोई साधक प्राण के रहस्य को समझ लेता है। प्राण को सुरक्षित रखता है। उसकी अवहेलना नहीं करता है। उसकी संतान परम्परा कभी नष्ट नहीं होती है। क्योंकि उसका वीर्य अमोघ और अद्‌भुत् शक्ति सम्पन्न हो जाता है। साधक उसके आध्यात्मिक रहस्य को समझ कर अपने जीवन को सार्थक बना लेता है। वह सदैव भगवान के चिन्तन में लगा रहता है तथा सदा के लिये अमर हो जाता है।

भव रोग वैद्यं

—डॉ. श्री विजयसिंह

आनन्दकन्द श्री सद्गुरु भगवान् की अहैतुकी कृपा के संचार से साधारण जीव के अन्दर एक अकथनीय, अवर्णनीय क्रांति बीज का वपन अकस्मात् हो जाया करता है। व्यक्ति अपने अन्तस में एक विचित्र भावराज्य तथा विलक्षण विज्ञान बोध को अनुभव करने लगता है। हमने अपने साथियों के अन्दर किसी को दीक्षा के उपरान्त प्राण के अद्भुत व्यापार घटित होते हुये देखे, तो किसी में नाद, ज्योति अथवा आनन्द व प्रेम का प्राकट्य होते देखे। ऐसे लोगों की निजानुभूति इतनी विलक्षण और विस्तृत सत्य हैं कि उनका समुचित वर्णन करना मात्र मनुष्य के लिए ही नहीं, अपितु देव दुर्लभ शक्ति मण्डित जन के द्वारा भी अशक्य है। यहाँ मैं भाषा अलंकार अथवा अतिशयोक्ति की बात नहीं कर रहा हूँ। विगत वर्षों में अपने प्रिय गुरु भाइयो एवं गुरु–बहनों में से जिन कुछ लोगों ने अपने दीक्षा विषय को तथा उपरान्त उद्भासित अनुभवों को यथा तथा बताया है, केवल उसका ही वर्णन एक वृहत् ग्रन्थ की संरचना के लिए पर्याप्त होगा। फिर देश–विदेशों में सद्गुरु की कृपा शक्ति जो प्रकीर्णित होकर आज लक्ष–लक्ष लोगों में व्याप्त हो चुकी है, उन सबको समवेत भाव से तो प्रभु–स्वरूप वेदव्यास जैसी मेधा, स्मृति–सम्पन्न महापुरुष ही देख–सुन और गुन सकते हैं। यहाँ इस लेख अथवा लेखमाला में उन श्रीमान् गुरुनिष्ठ गुरु–भाइयों के अनुभव वर्णित करना चाहता हूँ जो अहर्निश प्रभु–कृपा शक्ति का संचार अपने अन्दर करते हैं तथा सद्गुरु की प्यारी चिदात्मिका शक्ति कैसे उनके अधिभूत अधिदैव व अध्यात्मिक दुःखों को विनष्ट समय–समय पर करती रहती है।

बात शुरू करता हूँ, अपने गुरु–भाई ब्रजमोहन शर्मा जी से। जिनका व्यवसाय है अध्यापन, जो गृहस्थ नहीं हैं। ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये हुए समाज सेवा में जुटे हुये हैं। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के श्री चरणों में आने से पूर्व से ही अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रतीक भगवान महावीर जी के प्रति इनकी अगाध निष्ठा थी। उन्होंने हमें एक बार बताया था कि श्री प्रभुजी की कृपा–कटाक्ष मुझे महावीर जी की प्रेरणा से ही प्राप्त हुई है। दीक्षा के उपरान्त साधना क्रम के विकसित होने पर उन्हें अनेक बार महावीर जी के दर्शन हुये हैं। हमने पूछा था कि क्या आपने स्थूल रूप में भी श्री महावीर जी के दर्शन प्राप्त किये हैं ? उनका उत्तर स्वीकारात्मक था। कैसे और किस प्रकार अनुभव दर्शन और साक्षात् दर्शन हुआ यह गोप्य रखना ही

समीचीन प्रतीत होता है। बराबर आनन्दकन्द श्री प्रभुजी एवं महाप्रभुजी की विलक्षण कृपायें भाई को अनुभव होती है। इस बार ऋषिकेश गंगादशहरा पर्व पर उन्होंने गुरुदेव भगवान द्वारा विगत दिनों की गयी उन पर अहैतुकी कृपा का एक अत्यन्त मार्मिक कथा हमें बतायी।

लगभग आज से एक वर्ष पूर्व बेसिक शिक्षा अधिकारी के कार्यालय में स्कूल संबंधी कागजात का भाई जी निरीक्षण करवाने गये हुये थे। कोई विशेष फाइल लेने सीढ़ियों से उतरकर नीचे आये और शीघ्रता से जब वे ऊपर चढ़ रहे थे उस समय अचानक दायीं पसली और नाभि के बीच कठिन पीड़ा का अनुभव उन्होंने किया। उन्होंने सोचा झटका लगने से ऐसा हो गया है, ठीक हो जायेगा। परन्तु कार्यालय से मुक्त होकर जब वे घर पहुँचे तब तक पीड़ा बढ़कर असहनीय हो गयी थी। बिस्तर पर पड़े–पड़े दर्द को कड़े दिल से सहन करना चाहा परन्तु असह्य वेदना प्राणों का ऊर्ध्वाकर्षण करती प्रतीत होने लगी। भाई बृजमोहन जी के कनिष्ठ भ्राता डॉक्टर हैं। लोगों ने उन्हें सूचित किया। वे घबराये भागे घर आये। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर दर्द निवारक औषधियाँ दी तथा गर्म जल से सेक–सांक भी करवाई। परन्तु फायदा की जगह 'ज्यों–ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता गया' की ही कहावत चरितार्थ होती रही। रात्रि में सहारनपुर सरकारी चिकित्सालय में भरती करवाये गये। डॉक्टरों ने दर्द निवारण के हेतु तमाम औषधि एवं इंजेक्शन दिये, परन्तु फायदा तात्कालिक दृष्टिगोचर भी नहीं हुआ। डॉक्टरों की समझ में कुछ नहीं आया। उन्होंने इन्हें चण्डीगढ़ मेडिकल इन्स्टीटयूट में भरती जल्द से जल्द करवाने की सलाह दी। रोग की गम्भीरता को देखते हुये उनके सुहृदजन उन्हें चण्डीगढ़ लिवा ले गये। इधर पीड़ा में छटपटाते भाई को अपना अन्त समय आया जान पड़ता था। वे मन ही मन अपने परमाराध्य श्री प्रभुजी को स्मरण करने लगे तथा भाई द्वारा श्री प्रभुजी के पास पत्र भिजवाया।

इधर गुरुभाइयों (चण्डीगढ़) के सहयोग से चण्डीगढ़ के डॉक्टरों ने इनके शरीर की तमाम यांत्रिक तथा रासायनिक जाँच करवायी और निष्कर्ष निकाला कि यकृत में स्टोन (पथरी) है। जिसे तत्काल आपरेशन से निकालना ही ठीक होगा। आपरेशन की तिथि 12 अगस्त निश्चित हो गयी।

उधर परमकरुणार्णव अचिंत्य शक्तिमान श्री प्रभु चरणों में भाई जी का पत्र पहुँचा। पत्र द्वारा ब. बृजमोहन की असह्य पीड़ा तथा चण्डीगढ़ में भर्ती तथा ऑपरेशन आदि की बात जानकर (अन्तर्यामी प्रभु से छिपा क्या है ?) श्री प्रभुजी ने आश्रम के ब. भाई पूर्णचन्द जी को बुलाकर उनको आदेश दिया कि तुम चण्डीगढ़ हमारा पत्र लेकर जाओ और लल्ला बृजमोहन वहाँ भरती है, उसे देख आओ। उससे कहना कि आपरेशन करवाने की कोई आवश्यकता

नहीं है। यह पुष्प प्रसाद उसे देना, अब उसकी पीड़ा भी कम हो चुकी होगी।

इधर उन परमात्मा प्रभु के संकल्प होते ही भाई जी को पीड़ा में कमी महसूस हुई। जब भाई पूर्णचन्द्र जी पहुँचे तब तक पीड़ा में काफी कमी हो चुकी थी। ब्रह्मचारी श्री पूर्णचन्द्र जी ने कहा कि यद्यपि श्री प्रभुजी का आदेश है कि अब ऑपरेशन करवाने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है परन्तु जब डॉक्टर कहते हैं कि पथरी है तो इसे निकालना ही श्रेयस्कर होगा। और तुम्हारे ऑपरेशन का दिन भी निश्चित हो चुका है अतः बिना आपरेशन के डॉक्टर तुम्हें डिस्चार्ज भी तो नहीं करेंगे। हम लोग परिस्थिति वश श्री प्रभुजी की कृपाओं की अनदेखी अपने बुद्धिबल से कर जाते हैं। माया अपना कार्य बखूबी अज्ञान का परदा डालकर करती रहती है। अतः भाई बृजमोहन जी का भी मन आपरेशन करवा लेने का बन गया तथा वे डिस्चार्ज भी तो अपने मन से नहीं हो सकते थे।

उन्होंने बताया कि श्री प्रभुजी का संकल्प कैसे आगे अपना कार्य करता गया। 12 अगस्त को ऑपरेशन का चोंगा पहनाकर स्ट्रेचर–ट्रॉली पर लिटाकर ऑपरेशन थियेटर की ओर भाई बृजमोहन जी को लिवा ले जाया गया। थियेटर रूम में कोई बड़ा आपरेशन चल रहा था। अतः इनको स्ट्रेचर पर लेटे–लेटे इन्तजार करते एक घण्टा व्यतीत हो गया। तभी अन्दर से एक डॉक्टर निकलकर आया और कहा बड़े डॉक्टर को एक अन्य केस देखने बाहर जाना है अतः अब और कोई ऑपरेशन वे आज नहीं करेंगे। भाई बृजमोहन जी को अन्दर–अन्दर श्री प्रभुजी की अकथनीय कृपा का बोध हो रहा था। वे यह सुनकर अति प्रसन्न हुये। डॉक्टर ने बताया अगले दिन इतवार है तथा 15 अगस्त है अतः अब 16 अगस्त को ही अन्य आपरेशन होंगे।

इधर भाई बृजमोहन जी को श्री प्रभुजी का पत्र पुनः मिला 'तुम चण्डीगढ़ से आश्रम आ जाओ हम तुम्हें ठीक कर लेंगे।' भाई बृजमोहन जी ने पुनः चण्डीगढ़ के अपने सुपरिचित गुरु–भाइयों की मदद से डॉक्टरों पर दबाव डलवाकर पुनः परीक्षण करवाया। आश्चर्य! इस बार एक्स रे आदि की रिपोर्ट भिन्न थी। उन्हीं डॉक्टरों ने जिन्होंने पहले परीक्षण के आधार पर गालब्लैडर में स्टोन होना बताया था वे अब आश्चर्य भाव में कहने लगे। इस एक्स–रे में तो वे स्टोन हैं ही नहीं! अतः अन्ततोगत्वा भाई बृजमोहन जी को अस्पताल से छुट्टी मिल ही गयी।

वे श्री प्रभुजी की इस अलौकिक कृपा से रोमांचित थे। वे अश्रुपूरित नेत्रों से मानस पटल पर उनके अमोघ श्रीचरणों को अंकित कर पुलकित होते हुये शीघ्र ही सवाँई धाम पहुँचे। लीला निकेतन श्री प्रभुजी भाई जी को देखते ही बोले–आ गये। अब हम तुम्हारे स्टोन को

ठीक कर देंगे। कल से सुबह साढ़े तीन बजे व्यायाम कक्षा में नियमित तुम भी शामिल रहना। इन दिनों आश्रम में श्री प्रभुजी सभी को तीन बजे उठाकर शौच आदि से निवृत्त हो जाने पर आसन क्लास लगवाते हैं तथा चार बजकर तीस मिनट पर आरती समाप्त कर गीता–पाठ तथा पुनः स्वयं अपने संरक्षण में सभी को दो घण्टे ध्यान में बिताते हैं। जीवों पर करुणा करने वाले परमकृपालु प्रभुजी के इन दिनों की चर्चा करते हुए आश्रम में निवास करने वाले एक व्यक्ति ने बताया कि श्री प्रभुजी तीन बजे अपनी छुट्टी लेकर आश्रम के प्रत्येक कमरे में स्वयं जा–जाकर लोगों को जगाते रहे हैं। ऐसे जीवों के उद्धारक परम–करुणाशील प्रभु कहाँ देखे हैं।

तो भाई बृजमोहन जी भी नित्य प्रातःकालीन व्यायाम में सम्मिलित हो गये। उनकी पीड़ा समाप्त हो गयी थी परन्तु दाईं ओर पीड़ा वाले स्थल के अन्दर अब भी एक हल्की चुभन बनी रहा करती थी। महीनों व्यायाम करते व्यतीत हो गये। स्वास्थ्य ठीक था परन्तु वह चुभन समाप्त ही नहीं हो रही थी। परम कौतुक प्रिय श्री प्रभुजी ने एक दिन भाई बृजमोहन ने पूछा–तुम्हारा अब दर्द कैसा है ? भाई जी ने कहा–प्रभुजी ! दर्द तो नहीं है परन्तु (गंजी को ऊपर उठाते हुये पेट के उस भाग को श्री प्रभुजी को दिखाते हुये) बोले हर समय यहाँ एक चुभन बनी रहा करती है। विनोद करते हुये परमगुरु भगवान ने कहा–जरा हमारे पास तो आओ और नजदीक आकर बताओ कहाँ चुभन है। भाई बृजमोहन ने श्री प्रभुजी के पास जाकर दाँयीं ओर उस स्थान को दिखाया। अचानक श्री प्रभुजी अपनी अंगुलियों से उनके पेट में गुलगुली करते हुये हँसते हुये बोले अरे यहाँ–कहाँ चुभन है। और भाई जी को थोड़ी देर गुलगुलाकर हँसाते रहे। फिर गम्भीर होकर श्री प्रभुजी बोले–अब ठीक हो जायेगा।

भाई श्री बृजमोहन जी ने बताया, आश्चर्य वह चुभन श्री प्रभुजी के स्पर्श मात्र से ही जाती रही। फिर तब से वैसा कुछ भी नहीं हुआ। परमपिता श्री सद्‌गुरु की ऐसी अहैतुकी कृपा को हमने अपने तमाम मित्रों के जीवन में घटित होते स्वयं देखा है। अद्‌भुत है श्री प्रभुजी का अपने बालकों के संस्कारों का भुगतान करवाना।

श्री प्रभुजी कहते हैं तुम गुरु मन्त्र का जाप करो तुम्हारे ऊपर पहाड़ गिरना होगा तो रूई के बादल बनकर गिरेंगे। सद्‌गुरु प्रतिफल तीर संधान किये तैयार रहा करते हैं जब ही कोई कड़ा क्लेश संस्कार शिष्य का उदय होता है वे अचूक निशाना ले तीर संधान करते हैं। उन संस्कारों का छेदन–भेदन तत्काल हो जाया करता है।

योगियों का सहज धर्म—

मानवता-वाद

—श्री वेदप्रकाश अग्रवाल

आज सम्पूर्ण विश्व नाना प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त, शोक–संतप्त एवं पीड़ित है। मनुष्य ने वैज्ञानिक प्रगति कर पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि पर अधिकार तो कर लिया तथा अपने हितार्थ विविध रूप से वह इनका उपयोग भी कर रहा है, किन्तु सृष्टि का सबसे बुद्धिमान, शक्तिशाली एवं उद्यम–शील प्राणी होने के बावजूद वह निरन्तर अशान्ति, चिन्ता, पीड़ा और पतन के गर्त में गिरता जा रहा है। मनुष्य–मनुष्य के बीच की खाई बढ़ती ही जा रही है, जिसका परिणाम विविध प्रकार के संघर्षों के रूप में सामने आ रहा है। सामाजिक विषमता इतनी अधिक है कि एक ओर अपार सम्पत्ति है तो दूसरी ओर सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य ही दाने–दाने को मुहताज, भूखा, नंगा, बीमार, असहाय, दीन–हीन और उपेक्षित है। ऐसी घोर विषमता देखकर कवि–हृदय कराह उठता है—

एक ओर समृद्धि थिरकती,
पास सिसकती है कंगाली।
एक देह पर एक न चिथड़ा,
एक स्वर्ण के गहनों वाली।।
उधर खड़े हैं रम्य महल,
वे आसमान को छूने वाले।
और बगल में बनी झोपड़ी,
जिनके छप्पर चूने वाले।।
श्वानों को मिलता दूध वस्त्र,
भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर,
जाड़े की रात बिताते हैं।।
युवती के लज्जा वसन बेच,
जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक तब तेल फुलेलों पर,
पानी–सा द्रव्य बहाते हैं।।

निर्धन, असहाय व्यक्ति ही दुःखी हो, सो बात नहीं। आज का अधिक–से–अधिक धनवान, शिक्षित और सभ्य कहलाने वाला वर्ग भी नाना प्रकार की चिन्ताओं, समस्याओं से जकड़ा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति अपना ही रोना रोता हुआ मिलेगा, चाहे कितना ही धनी–मानी हो। शायद ही कोई ऐसा घर होगा जहाँ पिता–पुत्र, भाई–भाई, माँ–बेटी, सास–बहू, ननद–भौजाई आदि के बीच टकराव न हो। प्रत्येक जाति, समाज, वर्ग, समुदाय के मध्य संघर्ष है, वह निरन्तर बढ़ रहा है। यही नहीं, वैज्ञानिक प्रगति की दौड़ में राष्ट्रों में घातक–से–घातक एवं अधिक–से–अधिक मात्रा में अस्त्र–शस्त्र निर्माण की होड़ लगी है। विश्व–युद्ध की सम्भावनाएँ बढ़ती ही जा रही हैं।

तब क्या इस धरती पर मनुष्य कभी सुख का अनुभव कर सकेगा ? शान्ति की साँस ले सकेगा ? क्या मनुष्य–मनुष्य के मध्य निरन्तर बढ़ती जा रही खाई समाप्त हो सकेगी ? क्या आदमी–आदमी के रक्त का प्यासा न होकर परस्पर मित्रता एवं बन्धुत्व स्थापित कर सकेगा ? क्या घोर निर्धनता और अज्ञानान्धकार से पीड़ित मानवता का कभी उद्धार हो सकेगा ?

आइये, उक्त प्रश्नों के उत्तर के लिए जरा परमात्मा–प्रदत्त दिव्य ज्ञान पर दृष्टिपात करें। परमेश्वर जो सर्व–शक्तिमान्, सर्व–व्यापक, सर्वज्ञाता है, जिसने सुन्दर सृष्टि की अद्‌भुत रचना की, उसके द्वारा प्रदत्त प्राचीनतम् ज्ञान 'वेद' के रूप में सम्पूर्ण विश्व को प्रारम्भ से ही आलोकित करता रहा है। सार्वभौम, सर्वोपयोगी एवं सर्वोत्कृष्ट महान् ज्ञान तथा शिक्षाओं से परिपूर्ण होने के कारण ही 'वेद' आज तक इस संघर्षपूर्ण एवं घोर स्वार्थ के युग में विद्यमान है।

वेदों में सम्पूर्ण विश्व के लिए कल्याण की कामना की गई है–

योऽस्मान् द्वेष्टियं वयं द्विस्मस्तस्य त्वं प्राणेनाप्यायस्व।
आ वयं प्यासिपी महि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गजैर्धनेन।।

–अथर्ववेद 7/81–5

'हे परमात्मन् ! जो हमसे बैर–विरोध रखता है और जिससे हम शत्रुता रखते हैं तू उसे भी दीर्घायु प्रदान कर। वह भी फले–फूले हम भी समृद्धिशाली बनें। हम सब गाय, बैल, घोड़ों, पुत्र, पौत्र, पशु और धन–धान्य से भरपूर हों। सबका कल्याण हो और हमारा भी कल्याण हो।'

विश्व–कल्याण की जितनी उच्च एवं उदात्त भावना उपर्युक्त तथा अन्य वेद–मन्त्रों में है, उतनी संसार के साहित्य में अन्यत्र न मिलेगी।

विश्व–प्रेम–मनुष्य–मनुष्य के बीच शत्रुता समाप्त होने एवं मित्रता, प्रेम स्थापित होने

सम्बन्धी अमूल्य शिक्षायें वेद–मन्त्रों में भरी पड़ी हैं जो सम्पूर्ण विश्व की निधि है।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः।।

–अथर्ववेद 4/13–1

'हे दिव्य गुणयुक्त विद्वान् पुरुषो ! आप नीचे गिरे हुए लोगों को ऊपर उठाओ। हे विद्वानों! पतित व्यक्तियों को बार–बार उठाओ। हे देवो ! अपराध और पाप करने वालों को भी ऊपर उठाओ (उद्धार करो)। हे उदार पुरुषो ! जो पापाचरणरत हैं उन्हें बार–बार उद्बुद्ध करो, उनकी आत्म–ज्योति को जाग्रत करो।'

''मा अभिद्रुहः।'' *–अथर्ववेद 9/5–4*

'हे मानव ! संसार के किसी भी प्राणी से द्रोह, ईर्ष्या और वैर मत करो।'

वेद का उपदेश है कि किसी जाति–विशेष या सम्प्रदाय–विशेष के लोगों से ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र से प्रेम करो। वेद की विश्वप्रेम की भावना की पराकाष्ठा देखिये–

अद्या मुरीय यदि यातुधानो, अस्मि यदिवायुस्ततप पुरुषस्य।

–अथर्ववेद 8/4–15

'यदि मैं प्रजा को पीड़ा देने वाला होऊँ अथवा किसी मनुष्य के जीवन को संतप्त करूँ तो आज ही अभी इसी समय मर जाऊँ।

विश्वशान्ति–वेद का अनुयायी सर्वत्र शान्ति चाहता है। प्रभु से शान्ति की प्रार्थना करते हुए वह कहता है–

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ्, शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म ँ्, शान्तिः सर्व ँ् शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। *–यजु. 36/17*

'द्युलोक–सूर्य अथवा महान् आकाश हमारे लिए शान्तिदायक हो। पृथ्वी और अन्तरिक्ष, जल तथा औषधियाँ एवं वनस्पतियाँ भी हमारे लिये शान्तिदायक हों। समस्त विद्वान् गण और तेजोमय पदार्थ, तेजोमय परमेश्वर और वेद–ज्ञान–ये सभी हमारे ऊपर शान्ति की वृष्टि करने वाले हों। संसार की सभी वस्तुएँ शान्तिदायक हों। समस्त संसार को शान्त करने वाली परम–शान्ति मुझे प्राप्त हो।'

परमात्मा से प्रार्थना के साथ–साथ शासक से भी शान्ति की प्रार्थना की गयी है–

शं नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमवर्ते। शं राजन्नोषधीभ्यः।

–ऋग्वेद 9/11/3

'हे राजन् ! तू हमारे गौ आदि पशुओं के लिये शान्तिदायक हो। मनुष्यों के लिए शान्ति

सुधा की वर्षा करने वाला हो। हमारे घोड़ों के लिए भी शान्तिकारक हो। हमारी औषधि और वनस्पति आदि के लिये भी शान्तिदायक हो।'

चरित्र निर्माण—किसी कवि ने कहा है—

वह चाल चल कि उम्र खुशी से कटे तेरी।
वह काम कर कि याद तुझे सब किया करें।।

आइये देखें चरित्र–निर्माण के बारे में वेद का कथन है ! कुछ उदाहरण प्रेष्टव्य हैं—

मामुत्तरं कृधि (अथर्ववेद 2/27/7)

'हे प्रभो ! मुझे श्रेष्ठ बना दो।'

परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाघस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थायमृतां अनु।।

—यजु. 4/28

'हे परमेश्वर ! मुझे सब प्रकार के दुष्टाचार से हटाकर उत्तम चरित्र में स्थापित कीजिये। सदाचारी बनकर मैं जीवन्मुक्त अथवा दीर्घायु पुरुषों का अनुगामी होकर सुदीर्घायु और उत्तम जीवन से युक्त होकर उत्तम मार्ग में स्थिर रहूँ।'

वेद हमें ऐसा चरित्र बनाने का उपदेश देता है कि मित्रों की तो बात ही क्या शत्रु भी हमारी प्रशंसा करें—

उत नः सुभगां अरिर्वोचे युर्दस्म कृष्ट यः। स्यामेन्दिन्द्रस्य शर्मणि।।

—ऋ. 1/4/6

'हे दुर्गुणों और पापों को क्षीण करने वाले परमात्मन् ! आपकी छत्रछाया में रहने वाले हम लोगों को आप ऐसा श्रेष्ठ और महान् बना दें कि हमारे शत्रु भी [illegible] श्रेष्ठ और सौभाग्यशाली कहें।'

आत्मनिरीक्षण—प्रत्येक व्यक्ति जब तक आत्म–निरीक्षण न करेगा—उसे सही मार्ग पर चलने का ज्ञान न हो सकेगा। एकान्त में बैठकर अवश्य विचारना चाहिए, आज हमसे क्या त्रुटियाँ हुई हमने किसी के लिए अशुभ कामना तो नहीं की। जहाँ कोई दोष हमें अपने अन्दर दिखायी दे वहाँ अवश्य सुधार का प्रयास करें एवं अपने हृदय, मन, इन्द्रियों को पवित्र तथा स्वच्छ बनायें।

किसी कवि ने कहा है—

कशा कशीये जिन्दगी से बचकर,
कभी तो खिलवत नशीं हुआ कर।

इसमें वो है कुदरत की बूँद,

पानी को गोहर आवदार कर दे।।

आत्मनिरीक्षण करके शराबी और असत्यवादी टालस्टाय, महात्मा टालस्टाय बन गये।

उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत्, कृत्या मन्मनीषा मुदिन्द्रियम्।

—अथर्ववेद 5/9/8

'अपने जीवन को उत्तम और उत्कृष्ट बनाओ। बल को भी श्रेष्ठ बनाओ। कार्य भी उत्तम करो। कर्त्तव्य भी उत्कृष्ट बनाओ, बुद्धि को तीक्ष्ण करो।' उपर्युक्त पंक्तियों में आत्म निरीक्षण की कैसी उदात्त प्रेरणा है।

वेद में अमूल्य उपदेश भरे पड़े हैं। पुरुषार्थ पूर्वक वेदाध्ययन की आवश्यकता है। वेद की तुलना में संसार का कोई ग्रन्थ नहीं ठहर सकता। देश–विदेश के अनेक विद्वानों ने वेदों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है–'जो कुछ वेदों में मिलता है वह अन्यत्र नहीं मिलता।' प्रो. हीरेन ने कहा है–'जिस प्रकार वेद देदीप्यमान हैं, संसार का अन्य कोई ग्रन्थ वैसा नहीं चमकता, ज्ञान–प्रकाश नहीं देता। वेद मानव मात्र को अपना दिव्य प्रकाश प्रदान कर उसे आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करते हैं। तो आइये, हम उसी के उपदिष्ट मार्ग पर चलें। इसी से संसार में शान्ति होगी और विश्व का कल्याण होगा।

आत्मानन्द

आनन्द से आत्मा की आत्म प्रतीति अथवा आत्म साक्षात्कार की अनुभूति होती है। आत्मानन्द का प्रभाव बुद्धि को सुखमय, स्वस्थ एवं संतृप्त कर देता है तथा समस्त व्यक्तित्व तृप्त हो जाता है। प्रारम्भ में लगभग बीस मिनट तक आँखें बन्द करके गहरे ध्यान में बैठे ही रहना चाहिए। अभ्यास होने पर भी लगभग 30–40 मिनट तक ध्यान में बैठना पर्याप्त होता है। दिन में दो बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

ध्यान के पश्चात् भौं को हलके से मलते हुए धीरे–धीरे आँखें खोलकर दो–तीन मिनट तक शान्त होकर बैठे ही रहना चाहिए। कभी–कभी सामूहिक ध्यान में बैठना भी ध्यानाभ्यास में सहायक होता है। ध्यान का उद्देश्य प्रभु से सम्बन्ध जोड़ना और दिव्यानुभूति का अनुभव करना है।

—शिवानन्द

परमधर्म-योग

—स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

योगांगों पर एक दृष्टि

निवृत्ति-प्रधान धर्म है 'योग'। याज्ञवल्क्य ने आत्म-दर्शन के साधन योग को 'परमधर्म' कहा है। योग पौरुष-साध्य है, जीव के द्वारा अनुष्ठित होता है, उसकी भी एक विधि है। वह त्वं-पदार्थ-प्रधान है। द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान ही योग है। इसलिये निवृत्ति-प्रधान साध्य धर्म के अन्तर्गत योग का भी सन्निवेश है। योग के आठ अंग हैं। अंगों के क्रम पर एक चलती-फिरती दृष्टि डाल लें, पहला 'यम' है। यम के पाँच विभाग हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य। शत्रु चार हैं और निवर्तक पाँच हैं। काम का निवर्तक ब्रह्मचर्य है। सबके अन्त में इसकी गणना इसलिये है कि पराधीन करने वाली वृत्तियों में यह सबसे प्रमुख है और पहले के चार गुणों के सहकार से ही इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है। काम की गति अत्यन्त सूक्ष्म है। वह बार-बार जीने-मरने का स्वांग करता रहता है। आत्मा से अतिरिक्त देशांतर, कालान्तर या वस्त्वन्तर रूप में विद्यमान या वर्तमान किसी वस्तु को चाहना काम है। न चाहने के रूप में भी काम ही रहता है, इसी से कामरूप को 'दुरासद' कहते हैं, उसको पकड़ पाना कठिन है। नित्य-प्राप्त सत्ता के खो जाने की भ्रान्ति और अन्य की प्राप्ति की इच्छा काम का मूल है। इसकी निवृत्ति के लिए अद्वय-तत्त्व का, ब्रह्म का, आत्म-रूप से ज्ञान अपेक्षित है। ब्रह्म के लिए चर्या ही इस इच्छा को मिटा र कती है।

यमों द्वारा व्यावृत्य

स्तेय, लोभ एक दुर्गुण है। यह दो रूप धारण करके आता है। जिस वस्तु पर अपना स्वत्व नहीं है उसको किसी प्रकार प्राप्त करना इसका नाम स्तेय है। दूसरा रूप है—जो वस्तुएँ अपने पास हैं, जिन पर अपना स्वत्व है उन्हें अधिक से अधिक संग्रह करके अपने साथ रखें, परिग्रह करें, इसका नाम 'परिग्रह' है। लोभ के इन दोनों तरुण-तनयों को वश में करने के लिए अस्तेय और अपरिग्रह नाम की दो वृत्तियाँ आवश्यक होती हैं। पहले अन्यायपूर्वक उपार्जन का परित्याग, फिर आवश्यकता से अधिक संग्रह का परित्याग।

काम और लोभ की पूर्ति न होने पर मनुष्य के मन में क्रोध का उदय होता है। इच्छा-पूर्ति में बाधा डालने वाले के प्रति द्वेष भी होता है। द्वेष और क्रोध ज्वलनात्मक-वृत्ति के रूप में

प्रचण्ड हो उठते हैं और हिंसा तथा विद्रोह के रूप में झण्डा उठाते हैं। यह आग है और हिंसा उसकी ज्वाला। हिंसा के निरोध के लिए अहिंसा की आवश्यकता होती है। अहिंसा आत्म–स्वरूप के अनुरूप अन्तःकरण का एक गुण है। स्वरूप–स्थिति के अधिक अनुकूल पड़ता है। यह करुणा तथा क्षमा से भी अन्तरंग है, क्योंकि ये दोनों व्यवहार–दशा में ही रहते हैं। अहिंसा शान्ति के रूप में व्यवहार–शून्य दशा में विद्यमान रहती है।

यमों का प्रयोजन

हमारी वाणी कर्म–कलाप, काम–संकल्प, विचार–विवेक, असत्य से अनुविद्ध हो गई है। हमारी बुद्धि अधिकांश असत्य को ही सत्य के रूप में ग्रहण करती है और व्यवहार करती है। व्यवहार में माता के लिए सत्य अलग होता है, पत्नी के लिए अलग। यह सत्य की विभाजक–रेखा समाधि लगाये बिना टूट नहीं सकती और स्वरूप–सत्य का साक्षात्कार होने के लिए ऐसा आवश्यक है। ऐसी अवस्था में यदि केवल वाणी से ही सत्य–भाषण प्रारम्भ कर दिया जाये तो सत्य क्या है ? यह जिज्ञासा जाग जायेगी। हम सत्य को जानेंगे तब सत्य को बोलेंगे। क्या बौद्धिक मानस या ऐन्द्रियक सत्य ही सत्य है ? आत्म–सत्य सर्वथा गुप्त–लुप्त–सुप्त हो गया है। आत्म–सत्य क्या है ? इस जिज्ञासा का बीज सत्य–भाषण में निहित है। आपकी दृष्टि से जो असत्य है वह न बोलें, न करें, न सोचें। आपके जीवन में एक दिन ऐसा आयेगा जब आप वास्तविक मौन का महत्त्व समझ जायेंगे। सत्य के साक्षात्कार के बिना बोलने में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। सत्य की अभिव्यक्ति मौन में होती है।

कहना न होगा कि अष्टांग योग का यह प्रथम अंग यम न केवल अपने लिए हितकारी है, प्रत्युत लोक–व्यवहार में समाज–सेवा के लिए भी बहुत उपयोगी है। धर्म–कक्षा में साधारण धर्म का सार यही है। वेदान्त के साधन–चतुष्टय में शम–दम आदि रूप षट्–सम्पत्ति भी इसी का परिपाक है। यह यम ही आदि में धर्म है और अन्त में अधिकार–सम्पत्ति। यह जिज्ञासु के जीवन में इतना घुल–मिल जाता है कि तत्त्व–ज्ञान होने पर भी इसमें शिथिलता नहीं आती। जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख का आधार बनकर जीवन्मुक्त पुरुष के जीवन में उल्लसित होता रहता है। अन्तर्मुखता के साधनों में यही प्रथम है, इसके बिना किसी साधन की नींव मजबूत नहीं होती।

दूसरा अंग–नियम

योग का दूसरा अंग है 'नियम'। यह व्यक्तिगत जीवन के निर्माण का आवश्यक साधन है। एक वस्तु जब दूसरी वस्तु के साथ मिश्रित हो जाती है तब दोनों ही अपने शुद्ध–रूप में

नहीं रहती। मिट्टी और पानी मिलकर कीचड़ बन जाते हैं। शक्कर और जल का मिश्रण शर्बत हो जाता है। न शुद्ध जल रहा, न शुद्ध शक्कर। इसी प्रकार मनुष्य का चरित्र भी भिन्न–भिन्न वस्तुओं और व्यक्तियों के समागम से अपने शुद्धरूप अर्थात् पवित्रता को खो बैठता है। आत्मा–अनात्मा का मिश्रण भी अशुद्धि ही है। मनुष्य के चरित्र में जब पवित्रता की रुचि उदित होती है तब वह बहिरंग एवं अन्तरंग दोनों ही प्रकार से पवित्र रहने का प्रयास करता है। शरीर पर मैल चढ़ने से धोने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मन में शत्रु–मित्र के प्रवेश से क्रोध–काम–रूप मलिनता आ जाती है और उसके निवारण के लिए द्वेष की आग बुझानी पड़ती है और राग का रंग छुड़ाना पड़ता है। ऐसा कोई भी रंग नहीं है जो शरीर के बहिर्देश या अन्तर्देश में प्रवेश कर जाये और उसको निकालना न पड़े, इसी को 'शौच' कहते हैं। यह अन्तरंग और बहिरंग के मल को प्रक्षालित करने की प्रक्रिया है। स्नान सन्ध्या–वन्दनगत अघमर्षण से यह सम्पन्न होता है। शरीर में जो भोग का अभ्यास हो गया है वह गहराई में उतर गया है। भोग का अभ्यास एक रोग है, वह जितना–जितना बढ़ता है उतना–ही–उतना राग–संस्कार घनीभूत होता है, साथ ही भोग के कौशल बढ़ते हैं। भोगी पुरुष किसी–न–किसी को दुःख पहुँचाकर ही भोग करता है। अतएव भोगवृत्ति के संकोच का नियम लेना चाहिए। अपनी रुचि के अनुसार कुछ न हो, न मिले, कोई न बोले तो थोड़ा कष्ट सहकर भी अपने को संयत रखना चाहिये। संयमहीन मनुष्य पशु हो जाता है। (चाहे जिस खेत में, चाहे जिसकी खेती पर मुँह मार दिया।) जो स्वधर्म–पालन के लिये कष्ट सहन नहीं करता वह धर्मात्मा नहीं, ढोंगी है। योग सम्बन्धी नियम में जो तप है वही वेदान्तियों की षट्सम्पत्ति में तितिक्षा बनकर प्रकट होता है। तप की माँ है धृति, बेटी है तितिक्षा। जिसके जीवन में तप नहीं है, वह किसी मन्त्र की रक्षा या ज्ञान के धारण में समर्थ नही हो सकता।

शौच है–तन–मन में बाहर से लगे हुए मल को निकाल देना। तप है भीतर–ही–भीतर तन–मन को तपाकर कुन्दन बना देना। इसके बाद अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए 'स्वाध्याय' की आवश्यकता पड़ती है। धर्म में स्वाध्याय का अर्थ होता है सांगवेदों का अध्ययन। कम–से–कम अपनी शाखा के वेदों का अध्ययन। उपासना में स्वाध्याय का अर्थ होता है इष्ट देवता के दर्शन के लिये जप। जप से प्रपंच की विस्मृति और बारम्बार लक्ष्य का स्फुरण होता है। स्वाध्याय बार–बार प्रपंच का विस्मरण कराता है और लक्ष्य का स्फुरण। इससे अभ्यास एवं वैराग्य की परिपुष्टि होती है। जप में स्वरूपतः अभ्यास है, दुहराना है और लक्ष्य से अतिरिक्त वृत्ति का उच्छेद है। स्वाध्याय से लक्ष्य की ओर अभिरुचि बढ़ती है।

साधक के लिए यह आवश्यक है कि अपने साधन–शरीर को परिपुष्ट रखने के लिए

किसी बाह्य वस्तु के लिए व्याकुल न हों। निर्वाह–मात्र के लिये ही खान–पान, परिधान, शयन स्थान अपेक्षित है, सुख लेने के लिए या ममता करने के लिए नहीं। यदि बाह्य वस्तुओं से ही अपने को गौरवशाली महामहिम माना जाये तो अन्तर में जो गरिमा सुषुप्त है वह जाग्रत नहीं होती, क्योंकि उसकी ओर पीठ हो जाती है। आप असंग आत्मा होने से श्रेष्ठ हैं कि बहिरंग पद–प्रतिष्ठा, प्रशंसा, भोग–राग की प्राप्ति से ? आपकी आत्म–तुष्टि कहाँ है ? 'संतोष' के बिना साधना निष्प्राण हो जाती है। हाँ, वह संतोष लक्ष्य–प्राप्ति की साधना से नहीं, बाह्य वस्तुओं की लिप्सा से विरति के रूप में होना चाहिए।

यह जीव तब तक शिव से एक नहीं होता, जब तक पूर्णता एवं अपूर्णता प्रतीति दृष्टि, उल्लास या कल्पनामात्र नहीं हो जाती, तब तक अपनी अल्पज्ञता और अल्पशक्तिता के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। जीव, जीव ही है। साधन की सभी कक्षाओं में जीवत्व अनुगत रहता है। जीवत्व के साथ निर्बलता जुड़ी हुई है। वह कभी उदास होता है, कभी निराश होता है, कभी थोड़ी देर के लिये उल्लास भी तरंगायित हो जाता है। जैसे शरीर स्वस्थ–अस्वस्थ होता रहता है, वैसे मन भी खिलता–मुरझाता रहता है। जैसे शरीर के लिए चिकित्सक और चिकित्सा की आवश्यकता होती है, वैसे ही मन के रोगों की चिकित्सा है–'ईश्वरप्रणिधान'। ईश्वर शाश्वत है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, करुणा–वरुणालय है, परमगुरु है। जैसे साँस के साथ हवा रहती है, आँख के साथ प्रकाश–ज्योति रहती है, वैसे ही प्रत्येक मन में जो सत्त्वांश है वह महासत्त्व शरीर परमेश्वर का ही रूप है। मन कण है तो ईश्वर मृत्तिका, मन बिन्दु है तो ईश्वर सिन्धु, मन घट है तो ईश्वर घटाकाश। अतएव ईश्वर में स्वतः समर्पण की विद्या से मन को देखना प्रणिधान है।' ईश्वर है प्रकृष्ट–निधान, सत्त्वात्मक मन खजाना है, कोश है। स्थिति मति–गति–रति का कारण है–परमेश्वर। उसमें अपने मन को समर्पण करना, उसी के उद्देश्य से अपने समस्त क्रिया–कलापों का अनुष्ठान, ईश्वर के प्रति आत्म–समर्पण 'प्रणिधान' अथवा शरणागति भाव है।

'देहाभिमान ही पाप है और यही सबसे बड़ी अपवित्रता है। या तो अपने को ईश्वर का पवित्र अभिन्न अंश आत्मा मानो या उस प्राणेश्वर प्रभु का दास मानो, आत्मा तो पवित्र और बलवान् है ही, प्रभु का दास भी स्वामी की सत्ता से, मालिक के बल से मालिक के समान ही पवित्र और बलवान् बन जाता है।'

–हनुमान प्रसाद पोद्दार

श्री रामलाल प्रभवे नमः

कहाँ तक गाऊँ मैं बड़ाई गुरुदेव की

—जगदीश राए बंसल "अधम्" मो. 9212434003

अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक जगत नियन्ता दाता गुरुदेव महा प्रभुजी श्री रामलाल जी महाराज एवं अखण्ड मण्डलाकार अनन्त विभूषित पल पल स्मरणीय योग योगेश्वर गुरुदेव भगवान श्री चन्द्रमोहन जी महाराज अपने संस्कारी बच्चों पर हर समय, हर जगह, जाने अनजाने कोई भी संकट आ जाने पर अपनी कृपा के बादल सदैव बरसाते रहते हैं। यह महान कृपाएँ चाहे किसी दुर्घटना से प्राण रक्षा की हो अथवा पानी में डूबने से बचाने की हो अथवा सरपट दौड़ती रेलगाड़ी के पहिए से बचाने की हो अथवा किसी अनिष्टकारी तान्त्रिक के प्रकोप से बचाने आदि–आदि की हो। गुरुदेव अपने लाड़ले बच्चों के हितार्थ एवं जन कल्याणार्थ, किसी को श्री सिद्ध गुफा की रज देकर, किसी को पुष्प प्रसाद देकर, किसी को दृश्यमात्र से, अथवा स्पर्श मात्र से, किसी को संकल्प से निहाल करते रहे हैं। अपनी योग विभूतियों से सर्वसिद्ध सिद्धेश्वर जी रिद्धि सिद्धि के स्वामी आवश्यकतानुसार अपनी वेशभूषा बनाकर मौके पर भी पहुँचते रहे हैं। कहीं पर न्यायाधीश बनकर, कहीं पर सर्जन बनकर, कहीं पर बाबा अथवा फकीर बनकर, कहीं दरोगा बनकर, और कहीं–कहीं निज धोती–कुर्ते के रूप में पहुँचकर हर विपत्ति का निवारण करते रहे हैं।

मगर आराध्यदेव जी की ये विलक्षण कृपा लीलाएँ हमारी अल्प बुद्धि में ज्यों की त्यों नहीं आतीं। जितनी हमारी बुद्धि में आती हैं, उतनी हमारे मन में नहीं आतीं और जितनी हमारे मन में आती हैं, उतनी हमारे कहने में नहीं आतीं और जितनी हमारे कहने में आती हैं, उतनी हमारे लिखने में नहीं आतीं। क्योंकि यह सब उन कृपालु गुरुदेव की कृपा पर ही निर्भर है। इस कथन को पूज्य भक्त शिरोमणि बाबा श्री तुलसीदास जी अपनी लेखनी से सत्यानुभूति कराते हैं कि—

सोई जानहि जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हीं तुम्हहि होई जाई।।

फिर भी प्रतिदिन हम देखते ही हैं कि भव भयहारी, सिद्ध लोकाधिपति गुरुदेव महाराज के श्री-चरणों में क्षणिक चिन्तन करने वाले अशरण–शरण पर अनाथ–नाथ की कृपायें हो ही जाया करती है।

इसी प्रकार का एक कृपा प्रसंग वर्तमान में म. प्र. राज्य के शिवपुरी निवासी गुरु भक्ति से सम्पन्न 71 वर्षीय आदरणीय गुरुभाई श्री अमरनाथ सक्सेना जी ने होली पर्व के शुभ अवसर पर बतलाया कि यह कृपा सन् 1974 के नवम्बर की मेरी माता जी से सम्बन्धित है। मैं अपनी माँ के बुलावे पर मेरी स्वयं की होने वाली 16 नवम्बर की शादी के लिए शिक्षा विभाग से अवकाश प्राप्त कर बड़ी उमंग से अपने मूल निवास स्थान ग्वालियर दिनांक 11–11–1974 को पहुँचा ही था कि हमारे परिवार पर एक निकृष्ट संस्कार का पहाड़ टूट पड़ा। हुआ यह कि मेरी प्यारी–प्यारी ममतामयी माँ, मैं जिसकी पलकों की छांव में पला, जिसकी सरस वाणी–उच्च विचार, सदाचार के कारण ही मेरा अस्तित्व है, जिसने 'माता निर्माता भवति' को साकार किया, सदैव मुझे आशीषों की सौगात दी, जिसने मुझे कुसुम की कोमलता, सागर की गम्भीरता, पृथ्वी की सहिष्णुता, गंगा की पवित्रता और क्या कहूँ, चन्दा की शीतलता दी, उस मेरी अरमानी जननी श्रीमति शकुन्तला देवी की यकायक आँखें ऊपर चढ़ गईं, बोलती बन्द हो गई और देखते ही देखते बेहोश हो गईं। हमारे पैरों तले की मिट्टी तो तब निकल गई जब ग्वालियर के मान्यवर चिकित्सकों ने भी हाथ खड़े कर दिए। अब क्या करें ? कहाँ जायें ? हमारी किंकर्तव्य विमूढ़ की स्थिति हो गई।

इसी उहा पोह के मध्य मेरी पूज्या भाभीजी श्रीमति कामिनी जी ने मुझे एक सुझावी आदेश दिया कि देवर जी आप तुरन्त हमारे सर्व समर्थ गुरुदेव योग योगेश्वर श्री चन्द्र मोहन जी महाराज की शरण में श्री सिद्ध गुफा आश्रम सवाई जाकर माता जी के लिए गुहार लगायें और इस कार्य में मेरा अनुज भ्राता अनिल आपका सहयोग करेगा। परिणामतः हम दोनों सवाई आश्रम पहुँचे। जैसे ही हमने आश्रम के मुख्य द्वार पर कदम रखा, तत्क्षण जगत नियन्ता जी किसी भाग्यशाली को निहाल करने के उद्देश्य से कार में सवार हो चुके थे, मात्र कार की खिड़की बन्द करना शेष था। हम हतोत्साहियों के पैर तीव्रता से बढ़े ही थे कि सुदुर्दर्श गुरुदेव भगवान जी हमको देख कर स्वयमेव कार से उतर कर गुरु निवास के सामने अपनी कुर्सी पर विराजमान हो गए। हम दोनों श्री चरणों में गिर पड़े। हमारा कण्ठ भर आया, नेत्रों से बदरिया उमड़ पड़ी......। गुरुदेव भगवान ने हमें सांत्वना देते हुए उठाया। हम कुछ सम्हले और मैंने अपनी सारी व्यथा कह डाली कि मेरी पारस माँ अचेत ...... डॉक्टरों ने ......

..... मेरी शादी ....16 नवम्बर की .... इत्यादि। हमको आप की शरण में मेरी भरजाई कामिनी जी ने भेजा है। ये सब हम कह ही रहे थे कि सिद्धों के सरदार–संकट मोचन–प्राणदाता जी ने आवाज लगाई, 'राम आश्रे वो प्रसाद लाओ'। प्रत्युत्तर में आदरणीय ब्रह्मचारी जी ने शीघ्र गुरु आज्ञा का पालन किया। सिद्धेश्वर जी ने पात्र से पुष्प की कुछ पंखुड़ियाँ उठाई और उनमें शक्तिपात करके मुझे देते हुए आदेश दिया कि ''लल्ला, इन्हें अपनी माता के मुख में डाल कर, पानी से पेट में उतार देना, श्री प्रभु जी सब ठीक करेंगे।'' हमने साष्टांग प्रणाम किया और स्वगृह लौट चले।

जहाँ सत्य का वास है, वहीं धर्म का वास।
जहाँ धर्म का वास है, वहीं विजय की आस।।

घर में सब एकटकी से हमारे आगमन की राह देख रहे थे। मैंने गुरुदेव भगवान द्वारा दी गई प्रसादी पुड़िया अपनी वीर्यवती भाभी श्रीमति कामिनी जी के हवाले कर दी। पूज्या भाभी ने अपना गुरु मन्त्र जपते हुए आराध्यदेव जी के आदेशानुसार येन केन प्रकारेण पुष्प प्रसाद माता श्री के उदर में उतारने की सफलता प्राप्त की और गुरु कृपा से आनन्दित भाभी जी का उत्साहित हाव–भाव देख कर हम भी आशा की किरणों में डूब गए।

अगली प्रातः जब मैं भास्कर की सुनहरी आभा के साथ सो कर उठा तो आश्चर्य ! अपनी भली चंगी माता श्री को दैनिक प्रातःकालीन कार्यों में मग्न देख कर धन्य हो गया। मैं अपनी सुध–बुध खो बैठा। मेरे मन के मोर नाच उठे कि ऐ बगिया के पुष्पों तुम गुरुदेव भगवान के आश्रम में जा कर मुस्काओ, ऐ आनन्द सरोवर की बदरीयाओं तुम उमड़ घुमड़कर सिद्ध गुफा को रिमझिम कर दो, ऐ मन्द–मन्द सुगन्ध पवनों तुम आश्रम को महक से भर दो। ऐ मोरों के झुण्ड तुम नृत्य प्रतियोगिता कर हमारे गुरु को रिझाओ। जय गुरुदेव–जय गुरुदेव।

अड़सठ तीर्थ धाम आपके चरणों में।
हे आशुतोष प्रणाम आपके चरणों में।।

पश्चात् माँ से लिपट कर वहीं प्रेम वर्षा झड़ पड़ी जो आश्रम में पीड़ा वश झड़ी थी। माँ ने मुझे अपने कोमल हृदय से लगा लिया मेरा सिर गीला कर दिया।

माँ ही मथुरा, माँ ही अयोध्या, माँ ही तीर्थ काशी है।
माँ ही गंगा, माँ ही यमुना, माँ ही संवाई वासी है।।

फिर मैंने भाभीजी को प्रणाम किया कि भाभी जी माँ की अचेतना से जो व्याकुलता हुई

उसको आपने वरदान में बदल दिया। आपने काल चक्र, युग चक्र और जग चक्र को चलाने वाले चिदानन्द स्वरूप के दर्शन कराए और माँ की ज्योत जगवाई। ऐसे भव भय हारी की मुझे भी शरण दिलाने की कृपा करें............।

बता दूँ कि त्रिकाल दर्शी जी ने यह इच्छा सन् 1984 में संवाई साकार की। अब शादी की तो आप समझ ही गए होंगे कि उन परब्रह्म विश्वनाथ गुरु जी की असीम कृपा ने शादी की हंसी के अंगूरों का स्वाद बेहद हर्षोल्लास से चखाया।

परन्तु आगे की बात कहूँ भी तो कैसे कहूँ ? कहते हैं कि गहना कर्मणो गति–जिस कलिष्ट संस्कारों के वेग ने हम पर 11–11–74 को घात किया था, वही अवसादी काला बादल पुन: मौत का पैगाम लेकर दिनांक दो दिसम्बर 74 को मंडराया और देखते ही देखते मेरी जननी, प्यारी–प्यारी माँ को हमसे सदा के लिए छीन कर ले गया।

काश ! आश्रम में मुझ अल्पज्ञ को तनिक भी आभास हो गया होता कि प्राणदाता, माँ को सीमित अवधि के लिए जीवनदान दे रहे हैं तो मैं त्रिलोकी नाथ के पकड़े पैर माँ की दीर्घायु का आशीर्वाद लिए बिना कदापि न छोड़ता।''

मेरे लखदातार गुरुदेव–

मुझे चैन भी आए तो कैसे आए–तेरे दीवाने को।
अब एक जाता है तो दो आते हैं समझाने को।''

मगर श्रीमान जी मेरे बस की बात नहीं है, क्योंकि–

हजारों खुशियाँ भी कम हैं, एक गम भुलाने के लिए।
एक गम ही काफी है, जिन्दगी रुलाने के लिए।।

अन्तत: एक विचार कौंधा कि–हे मानव गुरुदेव भगवान तो सृष्टि रचेता हैं। उनके विधि विधान पर अंगुली उठाना गुरु आज्ञा का उल्लंघन माना जाएगा। अत:–

न रंज अच्छा है, न मलाल अच्छा है।
गुरुजी जिस हाल में रखें–वही हाल अच्छा है।।

(क्रमश:)

गीता में श्रद्धा का स्थान

—स्वामी श्री सहजानन्द सरस्वती

गोल–मोल बातें करना या कहना गीता की मान्यता के खिलाफ है। स्पष्टवादिता गीताकार का मुख्य लक्ष्य रहा है। श्रद्धा के विषय में भी साफ और बेलाग बात कहना उसकी अपनी विशेषता है। यथा—

त्रिविधा भवति श्रद्धा,
देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव,
तामसी चेति तां शृणु।।
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य,
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो,
यच्छ्रद्धः स एव सः।।

—गीता 17/2–3

इसका आशय है कि आदमियों की श्रद्धा स्वभावतः तीन ही तरह की होती है—सात्विक, राजस और तामस। सत्वगुण के तारतम्य के हिसाब से ही सबों की श्रद्धा होती है और आदमी को तो श्रद्धामय ही समझना चाहिए। इसीलिए जिसकी जैसी श्रद्धा हो वह वैसा ही समझा जाये। इसका निचोड़ यह है कि जिसका हृदय सत्व–प्रधान जिसमें सत्वगुण की प्रधानता है—वह सात्विक आदमी है। जिसमें सत्व दबा हुआ है और रजोगुण की प्रधानता है वह राजस है। जिसमें सत्व बहुत ही अल्प होने के साथ रजो–गुण भी दबा हुआ है और तमोगुण प्रधान ही है वही तामसी मनुष्य होता है। जैसा मनुष्य वैसी श्रद्धा या जैसी श्रद्धा वैसा ही मनुष्य। यही सिद्धान्त मानवीय होने के कारण जैसी ही श्रद्धा के साथ काम किया जायेगा वह वैसा ही भला या बुरा होगा। सात्त्विक श्रद्धा वाला बहुत अच्छा, राजस वाला बुरा और तामस वाला बहुत ही बुरा समझा जाना चाहिए।

इसका मतलब समझना होगा कि हरेक कर्म का करने वाला इस परिस्थिति पर तो होता नहीं कि वह विद्वान हो, विद्वानों के बीच में ही रहे। पढ़ने–लिखने की पूरी सामग्री उसे मिले, उसकी बुद्धि बहुत ही कुशाग्र हो, वह कभी न भूल कर सके– ऐसा होने पर वह मनुष्य ही क्यों हो ? और उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य का झमेला क्यों उठे ? वह तो सब कुछ जानता ही है। वह

शास्त्रों के वचनों के अनुसार कार्य करे, यह तो ठीक है—मगर सवाल तो यह है कि उन वचनों का अर्थ वह समझे कैसे ? किसकी बुद्धि से समझे ? कल्पना कीजिये कि मनु ने एक वचन कर्त्तव्य के बारे में लिखा है जिसका अर्थ समझना जरूरी है, क्योंकि बिना अर्थ जाने अमल होगा कैसे ? तो यह अर्थ मनु की बुद्धि से समझा जाये या करने वाले की अपनी बुद्धि से—यदि पहली बात हो तो वह ठीक—ठीक समझा तो जा सकता है, इसमें शक नहीं। मगर करने वाले के पास मनु की बुद्धि है कहाँ ? वह तो मनु के पास ही थी और उसके साथ ही चली गई।

अब यदि यह कहें कि करने वाला अपनी ही बुद्धि से मनु के वचन का भाव समझे, क्योंकि मनु की बुद्धि उसमें होने से तो वह भी स्वयं मनु बन जायेगा और समझने की जरूरत उसे रहेगी ही नहीं, तो दिक्कत यह होती है कि अपनी बुद्धि से मनु का आशय कैसे समझे ? जो चीज मनु की बुद्धि में समाई वही वैसे ही उसकी बुद्धि में तभी समा सकती है, जब उसकी भी मनु जैसी बुद्धि हो मगर यह तो असम्भव है ऐसा कह ही चुके हैं। सभी लोग मनु कैसे बन जायेंगे। फलत: जैसा समझेगा गलत या सही वैसा ही ठीक होगा। दूसरा उपाय है ही नहीं। फिर तो वैसा ही गलत या सही करेगा भी। किया भी आखिर क्या जाये ? मगर तब शास्त्र की कीमत क्या रही ? एक ही शास्त्र वचन के हजार अर्थ हो सकते हैं। अपनी—अपनी समझ के अनुसार, ऐसी दशा में यह एक खासा तमाशा ही हो जायेगा।

एक बात और भी है—यदि मनु की समझ के अनुसार चलना हो तो बुरे—भले का दोष—गुण मनु पर न जाकर करनेवाले पर क्यों जाये ? वह अपनी समझ से तो कुछ करता नहीं। उसकी अपनी समझ को तो कर्म अकर्म के सम्बन्ध में कोई स्थान है ही नहीं, उसे मनु का आदेश ठीक—ठीक समझना जो है—और यह बात नहीं है तो शास्त्र के आदेश और विधि—विधान का प्रयोजन क्या है ? यदि मनु के माथे गुण—दोष न लदें, इस ख्याल से करने वाले को अपनी ही बुद्धि से समझना—करना है तब शास्त्र बेकार है। यह ठीक है कि जिसको अधिकार दिया गया है, उसी पर जवाब—देही आती है। मगर यह जवाब—देही बिना शास्त्र के भी आ ही जायेगी। चाहे शास्त्र की बातें अपनी अक्ल से समझकर करें या बिना शास्त्र—वाक्य के अपनी ही समझ से जैसा जँचे वैसा ही करे। दोनों का मतलब एक ही हो जाता है। फलत: शास्त्र खटाई में ही पड़ा रह जाता है। यही समझकर अर्जुन ने शंका की थी कि 'जो लोग शास्त्रीय विधि—विधान का झमेला किसी भी तरह छोड़कर श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करते हैं उनकी हालत क्या होगी ? वे क्या माने जाएँ—सात्त्विक, राजस या तामस ?'

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य,

यजन्ते श्रद्धयान्विता:।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण,
सत्वमाहो रजस्तम:।।

—गीता 17/1

गीता में इसका जो कुछ उत्तर दिया गया है वह यही है कि शास्त्र की बात तो यों ही है। इसीलिये यह बच्चों को फुसलाने वाली चीज पुराने लोगों ने मानी है—'बालानामुलालना।' असली चीज को कर्म के स्वरूप को निश्चित करती है, वह है करने वाले की श्रद्धा ही। जैसा हमारी समझ में, हमारे दिल–दिमाग में आया, वैसा ही हमने ईमानदारी से किया, यही श्रद्धापूर्वक करने का मतलब है। यह नहीं कि समझते हैं कुछ और धारणा है कुछ और मगर डर, शर्म या लोभ वगैरह के चलते रहते हैं कुछ और ही। फिर भी श्रद्धा के नाम से पार हो जाये। श्रद्धापूर्वक करने का ऐसा मतलब हर्गिज नहीं है। तब तो अंधेरखाता ही होगा और उसी पर मुहर लग जायेगी। दिल, दिमाग, जबान और हाथ–पाँव आदि के मेल या सामंजस्य की जो बात पहले कही गई है उसी से यहाँ मतलब है, उसमें जरा भी फेरफार नहीं होना चाहिए। जितना ही फेरफार होगा, उतनी ही गड़बड़ और कमी समझिये। 17वें अध्याय के अलावा 7वें अध्याय के 20–23 तथा नवें अध्याय के 23–33 श्लोकों में भी यही भाव दर्शाया गया है। यदि गौर से विचारा जाये तो उनका दूसरा मतलब हो ही नहीं सकता। चौथे अध्याय के 11–12 श्लोक भी कुछ ऐसे ही हैं।

इससे यह भी ज्ञात हो जायेगा कि करने वाले पर ही उत्तरदायित्व होगा, क्योंकि समझ के साथ ही उत्तरदायित्व चलता है। इसीलिए रेल से आदमी कट जाने पर रेल के ऊपर उसकी जवाबदेही नहीं होती, हालाँकि काटने का काम वही करती है, किन्तु ड्राइवर पर ही होती है, उसे समझ जो है। यही कारण है कि पागल आदमी के कामों की जवाबदेही उस पर नहीं होती, वह समझकर करता जो नहीं है। यदि हमने गलत को ही सही समझकर ईमानदारी से उसे ही किया तो हम अपराधी नहीं हो सकते, यही गीता की मान्यता है। यद्यपि संसार में ऐसा नहीं होता है। मगर होना तो यही चाहिए। जो कुछ विवेचन अब तक किया गया है, उससे तो दूसरी बात उचित हो ही नहीं सकती। यह ठीक है कि एक ही काम इस तरह कई ढंग से—यहाँ तक कि परस्पर विरोधी ढंग से भी—किया जा सकता है और सभी करने वाले निर्दोष और सही हो सकते हैं। यदि उन्होंने श्रद्धा से किया है जैसा कि बताया गया है। युक्ति–युक्त रास्ता तो इसके लिए यही हुआ और यदि यह नई बात है तो गीता तो नई बातें ही बतलाती है।

पवित्र-कर्म और उनका प्रतिफल

—श्री कर्मनारायण कपूर

1—सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्द जी कहते हैं कि पवित्र-कर्म पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान से मुक्ति होती है। अतः यह सिद्ध है कि पवित्र-कर्म ही आत्मोन्नति तथा मोक्ष का प्रधान कारण है।

2—कर्तृ शब्द 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ करना है। जो किया जाये वह ही कर्म होता है। गीता कर्म अकर्म और विकर्म में भेद करती है। कर्म का तात्पर्य कर्त्तव्य कर्म अकर्म का कर्त्तव्यकर्म का न करना और विकर्म का अर्थ है उलटा कर्म करना। कोई मनुष्य कुछ न कुछ कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता।

3—कर्म के दो भेद हैं—व्यक्तिगत कर्म तथा अ-व्यक्तिगत कर्म, अर्थात् जिनका अन्य प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है। व्यक्तिगत कर्मों के पुनः चार भेद होते हैं, वे हैं—

(क) खाना, पीना, सोना, खेलना आदि। इन कर्मों के परिणामस्वरूप मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहता है।

(ख) सत्य बोलना तथा मन से सब का भला सोचना। इनसे मन शुद्ध होता है।

(ग) विद्या (ज्ञान) प्राप्त करना तथा तप करना। इनसे आत्मा की शुद्धि होती है।

(घ) ईश-उपासना। इससे आत्मा को आनन्द प्राप्त होता है, मनु महाराज ने कर्म के तीन भेद किये हैं—कायिक, मानसिक तथा वाचिक।

प्राणी शरीर से, मन से तथा वाणी से किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलों को शरीर, मन तथा वाणी द्वारा ही भोगता है। जिस कर्म को करने से मनुष्य को लज्जा नहीं आती और जिसके करने से आत्मा प्रसन्न होती है, वह कर्म सात्विक समझना चाहिए।

4—कर्म और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म का धात्वर्थ है 'जो धारण करे।' केवल कर्म ही मानव को धारण कर सकता है न कि कोरा विश्वास। कोरा विश्वास धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आ सकता है। इसीलिए मनु महाराज ने कहा है—

आचारः परमो धर्मः

संस्कृत साहित्य में 'धर्म' शब्द अनेकों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है यथा–स्वधर्म, परधर्म जातिधर्म तथा कुलधर्म, राजधर्म, संन्यासियों के विशेष धर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, स्त्रीधर्म आचार्य और शिष्य का धर्म।

मनु और व्यासजी कहते हैं कि ''युगमान के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भी भिन्न–भिन्न होते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्त्तव्य कर्म तथा धर्म पर्यायवाची शब्द हैं। इसकी पुष्टि गीता से होती है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं–

''इसके सिवा स्वधर्म की ओर देखें तो भी इस समय तुम्हें हिम्मत हारनी उचित नहीं है।''

क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना तथा राज्य–व्यवस्था करना होता है। यह दोनों कर्म (कर्त्तव्य) ही हैं। अपरंच मनु का वचन है कि ''धर्म ही एक सहृदय है जो मृत्यु के उपरान्त भी साथ जाता है।'' इस तथ्य का प्रमाण है कि धर्म शुभाशुभ कर्म का द्योतक है।

5–संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कल्याणकारक तथा परोपकारक कर्म ही शुभ कर्म होते हैं, इनकी गणना नहीं की जा सकती और न ही इन शुभ कर्मों की सीमा निर्धारित की जा सकती है। तथापि पाठकों की जानकारी हेतु कुछ शुभ (पवित्र) कर्मों की सूची दी जाती है।

(क) सत्य बोलना–

''**न हि सत्यात्परो धर्मः**–अर्थात् सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। ''सत्यमेव जयते नानृतं''। ''धर्मः सत्येन वर्द्धते।'' यह महावाक्य हैं जो सदैव ध्यान में रखने योग्य है।

किसी घटना, कर्म, स्थिति तथा वस्तु का ठीक–ठीक वर्णन करना ही सत्य कहलाता है। सत्य से ही राष्ट्र, समाज तथा न्याय की रक्षा हो सकती है। इसके बिना राष्ट्र, समाज तथा न्याय उथल–पुथल हो जाता है और अचिन्त्य विप्लव अनिवार्य हो जाता है इसलिए ऋग्वेद की सूक्ति है–''सत्येनोत्तभिता भूमिः'' अर्थात् सत्य से ही भूमि का धारण होता है। यहाँ भूमि का अर्थ भूमि–निवासी मनुष्यों का है। हिन्दी कवि का कथन है–

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप।।

यह तो निर्विवाद है कि सत्य बोलने से कभी–कभी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अपने व्यवसाय में हानि हो सकती है, मित्र और बन्धु रुष्ट हो जाते हैं और शत्रु बन जाते हैं, पर स्मरण रहे कि धर्माचरण कोई सरल बात नहीं। धर्म पर आचरण करना वैसा ही कठिन

है जैसा कि छुरा की धार पर चलना।

सत्य बोलने के नियम का एक अपवाद है, निरपराधी व्यक्ति की जान बचाने के लिए असत्य बोलना पाप नहीं है।

नारद का कथन है–''सच बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है जिससे सब प्राणियों का हित हो, क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है वही हमारे मत से सत्य है।''

(ख) सत्याचरण अथवा सत्यशीलता।

सत्य बोलने का अवसर मनुष्य को कभी–कभी मिलता है, किन्तु जीवन के प्रत्येक स्तर पर हर व्यक्ति को सत्याचरण के और सत्यशीलता प्रगट करने के अवसर पग–पग पर मिलते रहते हैं। चाहे वह दुकानदार हो, डॉक्टर हो, वकील हो, अधिकारी हो अथवा साधारण कार्यकर्ता हो।

शुद्ध वस्तुओं का बेचना, उचित दर लेना और ठीक तोलना गलती से प्राप्त अधिक धन व वस्तु का वापिस करना; रोगी को ठीक–ठीक जाँच कर दवाई देना; मुवक्किल का ईमानदारी से काम करना; दिये हुए वचन का पालन करना; दुखियों की सेवा करना; मधुर वचन बोलना; नम्र रहना–प्राणिमात्र से प्रेम और सद्व्यवहार करना; अपकार करने वाले का उपकार करना; क्षमा करना; अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करना; रेलगाड़ी में अपना अधिक सामान बुक कराना; चुंगीकर स्वयं देना; आय का पूरा कर देना; सर्वहितकारी नियमों का पालन करना; घूस (रिश्वत) को ठुकराना; भय, प्रलोभन, आफीसर की स्पष्ट तथा सांकेतिक अनुचित आज्ञा की उपेक्षा करते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करना, जल निमग्न व्यक्ति को बचाना; इत्यादि कर्म कर्ता के सत्याचरण तथा सत्यशीलता के मुँह बोलते उदाहरण हैं।

(ग) माता–पिता, गुरु, वृद्धजनों की आज्ञाओं का पालन करना तथा उनकी धन–धान्य, वस्त्र, औषधियों आदि द्वारा सेवा करनी चाहिए। यह प्रत्येक व्यक्ति का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है।

तैत्तिरीय उपनिषद् का वाक्य है–

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथिदेवो भव।

अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देव समझना चाहिए।

किसी व्यक्ति ने स्वामी दयानन्द से प्रश्न किया था कि वह इतने योगी हैं और पूर्ण ब्रह्मचारी हैं तो किस कारण आपको अपने कार्य में इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई जितनी कि

होनी चाहिए थी। स्वामीजी ने उत्तर दिया, इसका एकमात्र कारण यह है कि मुझे माता-पिता का आशीर्वाद प्राप्त न हो सका।

(घ) यज्ञ करना, दान देना और तप करना। यजुर्वेद में यज्ञ की महिमा का वर्णन किया है। यज्ञ से आयु, प्राण, अपान, व्यान, मन, वाणी, चक्षु, श्रुति, आत्मा आदि की सुव्यवस्था का वर्णन मिलता है।

रामायणकाल में यज्ञों का विस्तार था। ऋषियों के आश्रमों में यज्ञ होते रहते थे। ऋषि विश्वामित्र अपने यज्ञ की (राक्षसों से) रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण को ले गये थे। महाभारत काल में युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ तो प्रसिद्ध ही है। उत्तर महाभारत काल में यज्ञों का प्रायः लोप हो गया, उपनिषद् काल में ऋषि वनों में रह कर ब्रह्मचर्या किया करते थे। उपनिषदों में यज्ञों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में दान की महिमा इस प्रकार की गई है—

श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना। अपनी बढ़ती में श्री से देना; श्री न बढ़ रही हो तो भी लोक-लाज से देना। भय से देना, प्रेम से देना।

गीता में कहा है कि यज्ञ-दान और तप इन कर्मों को करना ही चाहिये। ये बुद्धिमानों को भी पवित्र करने वाले हैं। इन कर्मों को बिना आसक्ति के, फलाशय को त्यागकर करना चाहिए।

जो यज्ञ फलाशा को छोड़कर अपना कर्त्तव्य समझ करके, शास्त्र की विधि के अनुसार शान्त-चित्त से किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है।

वह दान सात्त्विक कहलाता है जो कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाता है, जो योग्य स्थल काल और पात्र का विचार करके किया जाता है। एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को दिया जाता है। देवता, ब्राह्मण गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शरीर का तप कहते हैं। मन को उद्विग्न करने वाला सत्य, प्रिय और हितकर सम्भाषण को तथा स्वाध्याय को वाचिक तप कहते हैं। मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना—इन को मानस तप कहते हैं। इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा न रखकर श्रद्धा से योगयुक्त बुद्धि से करें तो वे सात्त्विक कहलाते हैं। वास्तव में सर्दी-गर्मी और कष्ट का सहन करना ही शरीर का तप है।

आज के युग में न यज्ञ रहा है और न तप रहा है। आर्य समाज ने अग्निहोत्र का प्रचार अवश्य किया है किन्तु वह भी शून्य के बराबर है। अग्निहोत्र से जलवायु अन्न आदि की शुद्धि तो होती है किन्तु आधुनिक समय में पेट्रोल, गैस, धुंआ, धूलि आदि के कारण वायु इतनी

दूषित हो गई है कि थोड़े से रविवासरीय अग्निहोत्र इसका प्रतिकार नहीं कर सकते। भारत एक निर्धन देश है। अतः वायुशुद्धि का कार्य व्यक्तिगत रूप से होना असम्भव है। यह बहुत कार्य तो सरकार ही कर सकती है।

जहाँ तक तप का प्रश्न है वह असम्भव सा हो गया है। साइन्स ने मनुष्य के लिये इतनी भोग–ऐश्वर्य–विलासिता की सामग्री प्रदान कर दी है कि इस वातावरण तथा स्थिति में शारीरिक, मानसिक तथा वाणी के तप का सवाल ही उत्पन्न नहीं हो सकता। यह सत्य है कि इस युग में दान की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। धन अधिक संख्या में मनुष्य को प्राप्त हो रहा है। यह दूषित धन दान संस्थाओं को दूषित करके मनुष्य को अधोगति की ओर ले जा रहा है। न सात्विक दानी रहे और न ही सात्त्विक पात्र रहे हैं।

(ङ) दया–दया तो एक ईश्वरीय गुण है। भगवान् कर्मानुसार न्याय तो करते हैं पर साथ ही दया भी करते हैं। वह पाप कर्मों को क्षमा तो नहीं करते पर उनकी दया की दृष्टि सब प्राणियों पर सदा रहती है। अंग्रेजी की कहावत है। God's justice is tempered with Mercy–ईश्वर का न्याय दया से द्रवीभूत होता है।

प्रत्येक प्राणी को दीन–दुखियों पर दया करनी चाहिये और उनकी यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए।

कवि कहता है–

दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये जब तक घट में प्रान।।

(च) क्षमा–जब किसी व्यक्ति को दूसरे से क्लेश मिलता है तो उसके मन की शान्ति भंग हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह यदि उपकार करने वाले को क्षमा कर देवे तो उसका मन शान्त हो जोयगा। इसके प्रतिकूल वह उपकार करने वाले के मन में पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न कर उसके सुधार का भागी बन जायेगा।

क्षमा करना तो संन्यासियों का भूषण है और न्यायाधीश का अवगुण है।

(छ) अब पाप (अशुभ) कर्मों का संक्षिप्त वर्णन उचित होगा। इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से है–

(1) हिंसा (2) चोरी करना (3) लालच करना (4) घूस रिश्वत लेना (5) द्वेष करना (6) जुआ खेलना (7) पर स्त्री–पुरुष गमन (8) क्रोध करना (9) कठोर शब्द और झूठ बोलना (10) दूसरे का बुरा चाहना (11) कर्त्तव्य कर्म न करना (12) माता–पिता तथा वृद्धजनों का तिरस्कार करना (13) वचन का पालन न करना (14) राजकीय और सामाजिक नियमों का

उल्लंघन करना (15) विश्वासघात करना (16) मित्रद्रोह करना (17) खाद्य तथा अन्य वस्तुओं में मिलावट करना (18) काला धन कमाना (19) धोखा देना (20) झूठे प्रमाणपत्र देना (21) झूठे बिलों द्वारा धन प्राप्त करना (22) व्यर्थ लड़ाई झगड़ा करना (23) दूसरे का अपमान करना (24) धरोहर (सौंपे हुए धन) को वापस न करना (25) अपशब्द बोलना (26) उद्दण्डता (27) दूसरों के धन व सम्पत्ति पर अधिकार करने की चेष्टा करना।

7—यह स्मरण रहे कि शिशु बालक और पागल व्यक्ति शुभाशुभ कर्म करने में अशक्त होते हैं, क्योंकि उनको सत्य–असत्य पाप–पुण्य का भेद ज्ञात नहीं होता है। न्याय में अदण्डनीय होते हैं।

8—अन्त में भारतीय सन्तों तथा ईसाई पादरियों के ईश्वरीय विशेष अनुग्रह तथा God's grace (ईश्वरीय अनुकम्पा) का विवेचन करना है।

यह तो सत्य है कि शुभाशुभ कर्मों का फल तो अवश्यमेव भोगना होता है। उसमें किंचित् मात्र भी न्यूनाधिकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपने शुभाचरण अथवा भक्ति के कारण ईश्वर की दया तथा अनुकम्पा का पात्र बन सकता है। इस सिद्धान्त पर कुछ आपत्ति नहीं हो सकती। कर्मफल तथा ईश्वरीय विशेष अनुग्रह में कोई विरोध नहीं है क्योंकि ईश्वरीय अनुग्रह भी तो प्राणी के कर्म (भक्ति अथवा अन्य कर्म) के फलस्वरूप होता है ? न कि अकारण।

गीता में स्पष्ट लिखा है कि परमेश्वर किसी का पाप और किसी का पुण्य नहीं लेता है।

मुण्डक उपनिषद् का कथन है कि परमात्मा बड़े–बड़े भाषणों से नहीं मिलता, न ही तर्क–वितर्क से और न ही बहुत सुनने से। जिसको वह वरण कर लेता है वह ही उसे प्राप्त कर सकता है, उसके सामने परमात्मा अपने स्वरूप का विचरण करता है।

संसार में यह देखा जाता है कि किसी वस्तु व व्यक्ति का वरण उसके गुणों के आधार पर होता है। यह असम्भव व तर्कविहीन है कि सर्व न्यायकारी परमेश्वर पात्र की योग्यता बिना ही उसका वरण करता है। अतः यह निष्कर्ष सत्य है कि परमात्मा का विशेष अनुग्रह व्यक्ति के विशेष शुभ कर्मों पर ही आधारित होता है।

जीवात्मा और परमात्मा की एकता

—पं. श्रीहरिकृष्ण जी झा

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ है—**उप समीपं निषीदति प्राप्नोति**—इति उपनिषद् अर्थात् जिसके द्वारा परम समीपभूत ब्रह्म का साक्षात्कार हो, वह हुआ उपनिषद्। 'तत्त्वमसि' इस उपनिषद्—महावाक्य में 'तत, त्वम्, असि' शब्द त्रय का सम्मिश्रण है। 'तत्' अर्थात् वह परवाचक शब्द है, 'त्वम्' (तू) यह स्वबोधार्थक है, 'असि' (हो)—यह शब्द 'तत्' और 'त्वम्' दोनों की एकता का प्रतिपादक है। जहत्—अजहत्—भागत्याग के भेद से लक्षणा तीन प्रकार की होती है। जिसमें कहे हुए को छोड़कर तथा उससे सम्बन्धित दूसरों को ग्रहण किया जाये ऐसे जहल्लक्षणा कहते हैं। यथा 'गंगायां यज्ञदत्तस्तिष्ठति' यहाँ पर गंगा को छोड़कर तत्रस्थ गृह का बोध होता है। जिसमें कहे हुए और उससे सम्बन्ध रखने वाले का भी ग्रहण हो, उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं। यथा—**'काकेभ्योदधि रक्ष्यताम्'**—अर्थात् कौओं से दही की रक्षा कीजिए। यहाँ काकातिरिक्त जीवमात्र का भी बोध होता है। भागत्यागलक्षणा उसे कहते हैं, जिसमें उपाधि छोड़कर सत्यांश का ग्रहण हो। यथा **'अयं मनुष्यः स एव'**—यह मनुष्य वही है। इसमें मनुष्य मात्र का ग्रहण होता है। भूत और वर्तमानकालिक उपाधि त्याज्य हैं।

अब 'तत्', 'त्वम्' 'असि' में **'सोऽयं देवदत्तः'** के समान भागत्यागलक्षणा की ही प्राप्ति होती है, क्योंकि शुद्ध सत्त्वगुण, मलिन सत्त्वगुण, इन्हीं उपाधियों से जीवात्मा और परमात्मा के भेद कल्पित हैं। अर्थात् शुद्ध सत्त्वगुण में पड़ा हुआ बिम्ब माया को स्वाधीन करने से हिरण्यगर्भता को प्राप्त होकर जगत् का उपादान कारण है। इसी निमित्त उपादानात्मक को 'तत् ब्रह्म' कहते हैं। फिर वही बिम्ब जो कि मलिन सत्त्वगुण में पड़ता है, अविद्या के वशीभूत होकर विविध कामनाओं तथा कर्मों से दूषित होने से 'त्वम्' जीव शब्द से व्यवहृत होता है। इन परस्परविरोधिनी शुद्ध सत्त्व और मलिन सत्त्वरूप उपाधियों को छोड़ देने से 'त्वम्' (जीव) तथा तत् (ईश्वर) की एकता होती है। पुनः शुद्ध सत्त्वगुण उपाधिरहित ईश्वर और मलिन सत्त्वगुण उपाधिरहित जीव का अद्वितीय सच्चिदानन्द परब्रह्म में ही समावेश होता है। इस प्रकार माया और अविद्यारूपी उपाधि को त्याग करके ही अखण्ड सच्चिदानन्द 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्त—महावाक्य से लक्षित होता है; इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा की एकता होती है।

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते।।

इस एकता की प्रक्रियाएँ हैं—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः आत्मसाक्षात्कारः कर्त्तव्यः।

अर्थात् अध्यात्मनिष्ठ गुरुदेव के पास जाकर उक्त तत्त्वमस्यादि वाक्यों का अर्थाध्ययन कर चित्त में स्थिर रखना 'श्रवण' शब्द से कथित है। श्रुत पदार्थ का सयुक्तिक पुनः-पुनः विचार करना 'मनन' है। मनन और श्रवणद्वारा निस्सन्देह हुई चित्त की एकाकार वृत्ति को 'निदिध्यासन' कहते हैं—

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।।

जब पवन सहित दीपक के तुल्य ध्येय में ही चित्त हो, ध्याता और ध्यान का ज्ञान न रह जाये, उसे समाधि कहते हैं।

समाधि का दूसरा नाम

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
नियातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते।।

समाधि का अन्य नाम धर्ममेघ भी है, क्योंकि इससे धर्म की सैकड़ों धाराऐं निकली हैं। समाधि से सञ्जित कर्म नष्ट होते हैं तथा निर्मल धर्म की वृद्धि होती है। प्रथम समाधि द्वारा परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है, तदनन्तर अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है। सद्गुरुओं की कृपा से महावाक्यों द्वारा प्राप्त परोक्ष ज्ञान अग्निसदृश सम्पूर्ण पातकों को जलाकर भस्म करता है। अपरोक्ष ज्ञान तो इस संसार से उत्पन्न अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला सूर्य ही है। इस रीति से 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा जीवात्मैक्य की अपूर्वानुभूति होती है।

- मानव को सुख देने के लिए सारी सृष्टि ही सजी हुई है। लेकिन मनुष्य ने दुःखी रहने का निश्चय कर रखा है। अपने मन को वह जीत नहीं सका, वह उसे रुला रहा है। इसके लिए सृष्टि क्या करे ? अपने को भूल जाइये। मन की अकड़ चलेगी ही नहीं। यह अहं विस्मरण योग सधा कि मन शान्त और शून्य हो जायेगा।
- चमत्कारों का बहुत विचार नहीं करना चाहिए। भगवान् की सारी सृष्टि ही चमत्कारों से भरी पड़ी है। भगवान् निरन्तर आश्वासन दे रहा है इसे देखने और समझने का।

जादू सा असर करता है भारतीय विचार

स्वामी विवेकानन्द

भारत का दान है धर्म, दार्शनिक ज्ञान और आध्यात्मिकता। धर्म प्रचार के लिए यह आवश्यक नहीं कि सेना उसके आगे-आगे मार्ग निष्कंटक करती हुई चले। ज्ञान और दार्शनिक तत्व को शोणित-प्रवाह पर ढोने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान और दार्शनिक तत्व खून से भरे जख्मी आदमियों के ऊपर से सदर्प विचरण नहीं करते। वे शान्ति और प्रेम के पंखों से उड़कर शान्तिपूर्वक आया करते हैं, और हुआ भी सदा यही है। अतएव संसार के लिए भारत को सदा कुछ देना पड़ा है। लन्दन में किसी युवती ने मुझसे पूछा, " तुम हिन्दुओं ने क्या किया ? तुमने कभी किसी भी जाति को नहीं जीत पाया है। "अंग्रेज जाति की दृष्टि में - वीर, साहसी, क्षत्रियप्रकृति अंग्रेज जाति की दृष्टि में- दूसरे व्यक्ति पर विजय प्राप्त करना ही एक व्यक्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ गौरव की बात समझी जाती है। यह उनके दृष्टि बिन्दु से सत्य भले ही हो, किन्तु हमारी दृष्टि इसके बिल्कुल विपरीत है। जब मैं अपने मन से यह प्रश्न करता हूँ कि भारत के श्रेष्ठत्व का क्या कारण है, तब मुझे यह उत्तर मिलता है कि हमने कभी दूसरी जाति पर विजय प्राप्त नहीं की, यही हमारा महान गौरव है। तुम लोग आज कल सदा यह निन्दा सुन रहे हो कि हिन्दुओं का धर्म दूसरों के धर्म को जीत लेने में सचेष्ट नहीं ; और मैं बड़े दुःख से कहता हूँ कि यह बात ऐसे - ऐसे व्यक्तियों के मुँह की होती है, जिनसे हम अधिकतर ज्ञान की अपेक्षा करते हैं। मुझे यह जान पड़ता है कि हमारा धर्म दूसरे धर्मों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। इस तथ्य के समर्थन की प्रधान युक्ति यही है कि हमारे धर्म ने कभी दूसरे धर्मों पर विजय प्राप्त नहीं की, उसने कभी खून की नदियां नहीं बहायीं, उसने सदा आशीर्वाद और शान्ति के शब्द कहे, सबको उसने प्रेम और सहानुभूति की कथा सुनायी। यहीं, केवल यहीं, दूसरे धर्म के द्वेष न रखने के भाव सबसे पहले प्रचारित हुए, केवल यहीं पर धर्म- सहिष्णुता तथा सहानुभूति के ये भाव कार्य रूप में परिणित हुए। अन्य देशों में यह केवल सिद्धान्त- चर्चा मात्र है। यहीं, केवल यहीं, यह देखने में आता है कि हिन्दू लोग मुसलमानों के लिए मसजिदें और ईसाइयों के लिए गिरजे बनवाते हैं।

अतएव आप समझ गये होंगे कि किस तरह हमारे भाव धीरे-धीरे शान्त और अज्ञात रूप से दूसरे देशों में गये हैं। भारत के सब विषयों में यही बात है। भारतीय विचार का सबसे बड़ा लक्षण है, उसका शान्त स्वभाव और उसकी नीरवता। जो प्रभूत शक्ति उसके पीछे है, उसका प्रकाश जबरदस्ती से नहीं होता। भारतीय विचार सदा जादू सा असर करता है।

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/21-23 JULY 2022

प्रधान कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः।
तन्मित्रं यस्य विश्वासः सा भार्या यत्र निर्वृतिः।।

(चाणक्य नीति)

पुत्र वही है जो पिता का भक्त है, पिता वह है जो पुत्रों का पालन-पोषण करता है, मित्र वह है जो विश्वास पात्र हो और पत्नी वह है जिससे सुख प्राप्त हो।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ग्राफिक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14588
सम्पादक : आचार्य प्र. (डॉ.) रासलाल शर्मा